जैनदर्शन में
द्रव्य, गुण और पर्याय की अवधारणा

L. D. Series : 151

General Editor :
Jitendra B. Shah

Sagarmal Jain

L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY
AHMEDABAD 380 009

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति ग्रंथमाला : १५१

(मुनिश्री पुण्यविजयजी व्याख्यानमाला – २००९)

जैनदर्शन में
द्रव्य, गुण और पर्याय की अवधारणा

सागरमल जैन

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर

अहमदाबाद ३८०००९

२०११

Dravya Guṇa Paryaay kī avadhāraṇā

by

Sagarmal Jain

General Editor
J. B. Shah

Published by
Dr. J. B. Shah
Director
L. D. Institute of Indology
Ahmedabad 3S80 009 (India)
Phone : (079) 26302463 Fax : 26307326
ldindology@gmail.com

© L. D. Institute of Indology

Copies 500

Price : Rs. 150.00

ISBN 81-85857-33-4

Printed by
Navprabhat Printing Press
9, Punaji Industrial Estate,
Nr. Shanidev Temple, Dudheshwar,
Ahmedabad 380 004

प्रकाशकीय

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर (L. D. Institute of Indology, Ahmedabad) के प्रेरणादाता, जैनदर्शन एवं आगम साहित्य के प्रकांड विद्वान् तथा अनेक हस्तप्रत - संग्रहों के संरक्षक आगम प्रभाकर मुनिश्री पुण्यविजयजी की पुण्यस्मृति में संस्थान द्वारा प्रतिवर्ष एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है। प्रस्तुत व्याख्यानमाला के अन्तर्गत भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् को तीन व्याख्यानों के लिए आमन्त्रित किया जाता है। इस श्रेणी में सन् २००९ में जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो. सागरमलजी जैन को व्याख्यान हेतु आमन्त्रित किया गया था। उन्होंने जैनदर्शन के बहुचर्चित विषय द्रव्य-गुण-पर्याय पर व्याख्यान दिए थे। जैनदर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय की चर्चा आगमिक काल से ही होती आ रही है। यद्यपि द्रव्य एवं गुण शब्द भारतीय दर्शनों में अति प्रचलित हैं तथापि प्रत्येक दर्शन में द्रव्य के स्वरूप के विषयमें वैमत्य है। द्रव्य नित्य है या अनित्य ? द्रव्य में गुण स्वतः ही रहते है या आगन्तुक हैं उनके बीच परस्पर क्या सम्बन्ध हैं ? पर्याय का क्या स्वरुप है ? इन तीनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इन सभी विषयों पर जैन दार्शनिकों ने पर्याप्त चिंतन किया है। उपाध्याय यशोविजयजीने "**द्रव्य-गुण-पर्यायनो रास नामक**" एक ग्रन्थ की तथा उस पर स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना भी की है। इस सबका वर्तमान सन्दर्भ में चिन्तन आवश्यक था, डॉ. सागरमलजी जैन ने अद्यावधि सभी दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों की जैनदर्शन के साथ समालोचना करते हुए द्रव्य-गुण-पर्याय की विचारणा की है। उन व्याख्यानों को पुस्तकरूप में प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत व्याख्यान में जैनदर्शन में द्रव्य का स्वरूप, अनेकान्तात्मक द्रव्य, गुणपर्याय के संबंध आदि विषयों पर चिंतन किया गया है। भारतीय दर्शन के जिज्ञासुओं को प्रस्तुत ग्रंथ उपयोगी होगा ऐसी हमें श्रद्धा है।

पुस्तक प्रकाशन में सहयोगी सभी मित्रों को धन्यवाद देता हूँ।

गुरुपूर्णिमा, १५ जुलाई, २०११ — जितेन्द्र बी. शाह

विषयानुक्रमणिका

१.	जैनदर्शन में सत्ता का स्वरूप	०१
२.	सत् का स्वरूप	०६
३.	सत् या द्रव्य के परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील पक्ष की समीक्षा	०७
४.	पंच अस्तिकाय और षट्द्रव्यों की अवधारणा	१०
५.	षट्द्रव्य	१४
६.	आत्मा का अस्तित्व	१७
७.	एकात्मवाद की समीक्षा	२४
८.	आत्मा के भेद	२६
९.	जैविक आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण	२८
१०.	गतियों के आधार पर जीवों का वर्गीकरण	२८
११.	आत्मा की अमरता	२९
१२.	आत्मा की नित्यानित्यात्मकता	२९
१३.	आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म	३१
१४.	धर्म द्रव्य	३४
१५.	अधर्म द्रव्य	३५
१६.	आकाश द्रव्य	३६
१७.	पुद्गल द्रव्य	३६
१८.	स्कन्धों के प्रकार	३७
१९.	स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया	३८
२०.	काल द्रव्य	४०
२१.	कालचक्र	४४
२२.	षट्द्रव्यों का पारस्परिक सहसम्बन्ध	४५
२३.	जड और चेतन का पारस्परिक सहयोग	४५
२४.	द्रव्य या सत् की अनेकान्तदृष्टि	४६
२५.	द्रव्य और गुण	४६
२६.	गुण का स्वरुप	४९
२७.	द्रव्य और गुण का भेदाभेद	५०
२८.	गुणों के प्रकार	५१
२९.	पर्याय	५२
३०.	जैन तत्त्वमीमांसा की ऐतिहासिक विकासयात्रा	६७

जैनदर्शन में द्रव्य, गुण और पर्याय की अवधारणा

जैनदर्शन में द्रव्य, गुण और पर्याय की अवधारणा

जैनदर्शन में सत्ता का स्वरूप :

जैन आगम साहित्य एवं उसकी व्याख्याओं में वर्णित विषयवस्तु को मुख्य रूप से जिन चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है, वे अनुयोग कहे जाते हैं। अनुयोग चार हैं— १. द्रव्यानुयोग, २. गणितानुयोग, ३. चरणकरणानुयोग और ४. धर्मकथानुयोग । इन चार अनुयोगों में से जिस अनुयोग केअन्तर्गत विश्व के मूलभूत घटकों के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन किया जाता है, उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। खगोल-भूगोल सबन्धी विवेचन गणितानुयोग के अन्तर्गत आता है, जब कि आचार सम्बन्धी विधि-निषेधों का विवेचन चरणकरणानुयोग केअन्तर्गत होता है और धर्म एवं नैतिकता में आस्था को दृढ़ करने हेतु सदाचारी, सत्पुरुषों के जो आख्यानक (कथानक) प्रस्तुत किये जाते हैं, वे धर्मकथानुयोग केअन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन चार अनुयोगों में द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध तात्त्विक या दार्शनिक चिन्तन से है। जहाँ तक हमारे दार्शनिक चिन्तन का प्रश्न है, आज हम उसे तीन भागों में विभाजित करते हैं— १. तत्त्व-मीमांसा, २. ज्ञान-मीमांसा और ३. आचार-मीमांसा। इन तीनों में से तत्त्व-मीमांसा द्रव्यानुयोग केअन्तर्गत आती है । जहाँ तक तत्त्व-मीमांसा का सम्बन्ध है, उसके प्रमुख कार्य जगत् के मूलभूत घटकों, उपादानों या पदार्थों और उनके कार्यों की विवेचना करना है। तत्त्व-मीमांसा का आरम्भ तभी हुआ होगा, जब मानव में जगत् के स्वरूप और उसके मूलभूत उपादान या घटकों को जानने की जिज्ञासा प्रस्फुटित हुई होगी तथा उसने अपने और अपने परिवेश के सन्दर्भ में चिन्तन किया होगा। इसी चिन्तन के द्वारा तत्त्वमीमांसा का प्रादुर्भाव हुआ होगा। "मैं कौन हूँ"?, "कहाँ से आया हूँ"?, "यह जगत क्या है"?, "यह किन नियमों से नियन्त्रित एवं संचालित होता है" इन्हीं प्रश्नों के समाधान हेतु विभिन्न दर्शनों और उनकी तत्त्व-विषयक गवेषणाओं का जन्म हुआ। जैन-परम्परा में भी उसके प्रथम एवं प्राचीनतम आगम ग्रन्थ आचाराङ्ग

प्रारम्भ भी इसी चिन्तन से होता है कि "मैं कौन हूँ ?, कहाँ से आया हूँ ?, इस शरीर का परित्याग करने पर कहाँ जाऊँगा (आचारांग १/१/१)।" वस्तुतः ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनसे दार्शनिक चिन्तन का विकास होता है और तत्त्व-मीमांसा का आविर्भाव होता है।

तत्त्व-मीमांसा वस्तुतः विश्व-व्याख्या का एक प्रयास है। इसमें जगत् के मूलभूत उपादानों तथा उनके कार्यों का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। विश्व के मूलभूत घटक, जो अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य घटक पर आश्रित नहीं हैं तथा जो कभी भी अपने स्व-स्वरूप का परित्याग नहीं करते हैं, वे सत् या द्रव्य कहलाते हैं। इस प्रकार विश्व के तात्त्विक आधार या मूलभूत उपादान ही सत् या द्रव्य कहे जाते हैं और जो इन द्रव्यों का विवेचन करता है, वही द्रव्यानुयोग है।

विश्व के सन्दर्भ में जैनों का दृष्टिकोण यह है कि यह विश्व अकृत्रिम है ('लोगो अकिट्टिमो खलु' मूलाचार, गाथा ७/२)। इस लोक का कोई निर्माता या सृष्टिकर्ता नहीं है। अर्धमागधी आगम साहित्य में भी लोक को शाश्वत बताया गया है। उसमें कहा गया है कि यह लोक अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। ऋषिभाषित के अनुसार लोक की शाश्वतता के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भगवान् पार्श्वनाथ ने किया था। आगे चलकर भगवतीसूत्र में भगवान महावीर ने भी इसी सिद्धान्त का अनुमोदन किया। जैनदर्शन लोक को, जो अकृत्रिम और शाश्वत मानता है उसका तात्पर्य यह है कि लोक का कोई रचयिता एवं नियामक नहीं है, वह स्वाभाविक है और अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु जैनागमों में लोक को शाश्वत कहने का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। विश्व के सन्दर्भ में जैन चिन्तक जिस नित्यता को स्वीकार करते हैं, वह नित्यता कूटस्थ नित्यता नहीं, अपितु परिणामी नित्यता है, अर्थात् वे विश्व को परिवर्तनशील मानकर भी प्रवाह या प्रक्रिया की अपेक्षा से नित्य या शाश्वत कहते हैं।

भगवतीसूत्र[१] में लोक के स्वरूप की चर्चा करते हुए लोक को पंचास्तिकाय रूप कहा गया है[१]। जैन-दर्शन में इस विश्व के मूलभूत उपादान पाँच अस्तिकाय द्रव्य हैं—१. जीव (चेतन तत्त्व), २. पुद्गल (भौतिक तत्त्व), ३. धर्म (गति का नियामक तत्त्व), ४. अधर्म (स्थिति का नियामक तत्त्व) और ५. आकाश (स्थान या अवकाश देनेवाला तत्त्व)।

ज्ञातव्य है कि यहाँ काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना गया है। यद्यपि परवर्ती जैन विचारकों ने काल को भी विश्व के परिवर्तन के मौलिक कारण के रूप में या विश्व में होने वाले परिवर्तनों के

---

१. भगवतीसूत्र (लाडनूं) ५/२१८

नियामक तत्त्व के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य माना है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे षट्द्रव्यों के प्रसंग में की जायेगी। विश्व के मूलभूत उपादानों को द्रव्य अथवा सत् के रूप में विवेचित किया जाता है। द्रव्य अथवा सत् वह है जो अपने आप में परिपूर्ण, स्वतन्त्र और विश्व का मौलिक घटक है। जैन परम्परा में सामान्यतया सत्, तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, पर-अपर, ध्येय, शुद्ध और परम इन सभी को एकार्थक या पर्यायवाची माना गया है। बृहद्नयचक्र में कहा गया है :

ततं तह परमट्ठं दव्वसहायं तहेव परमपरं ।

धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा ॥

—बृहद्नयचक्र, ४११

जैनागमों में विश्व के मूलभूत घटकों के लिए अस्तिकाय, तत्त्व और द्रव्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र[१] में हमें तत्त्व और द्रव्य के, स्थानांग[२] में अस्तिकाय और समवायांग में पदार्थ के तथा ऋषिभासित[३], समवायांग[४] और भगवती[५] में अस्तिकाय के उल्लेख मिलते हैं। कुन्द-कुन्द ने अर्थ, पदार्थ, तत्त्व, द्रव्य और अस्तिकाय—इन सभी शब्दों का प्रयोग किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि आगमयुग में विश्व के मूलभूत घटकों के लिए अस्तिकाय, तत्त्व, द्रव्य और पदार्थ शब्दों का प्रयोग होता था। 'सत्' शब्द का प्रयोग आगम युग में नहीं हुआ। उमास्वाति ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने आगमिक द्रव्य, तत्त्व और अस्तिकाय शब्दों के साथ-साथ द्रव्य के लक्षण के रूप में 'सत्' शब्द का प्रयोग किया है। वैसे अस्तिकाय शब्द प्राचीन और जैन-दर्शन का अपना विशिष्ट परिभाषिक शब्द है। यह अपने अर्थ की दृष्टि से सत् के निकट है, क्योंकि दोनों ही अस्तित्व लक्षण के ही सूचक हैं। तत्त्व, द्रव्य और पदार्थ शब्द के प्रयोग सांख्य और न्याय-वैशेषिक दर्शनों में भी मिलते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र (५/२९) में उमास्वाति ने भी द्रव्य और सत् दोनों को अभिन्न बताया है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सत्, परमार्थ, परम तत्त्व और द्रव्य सामान्य दृष्टि से पर्यायवाची होते हुए भी विशेष दृष्टि एवं अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं। वेद, उपनिषद्

१. उत्तराध्ययनसूत्र २८/१४, २८/६
२. (अ) स्थानांग ४/९९, (ब) समवायांग प्र. ९०, ९१
३. ऋषिभाषित ३१
४. समवायांग ५/८,
५. भगवतीसूत्र ५/२१८

और उनसे विकसित वेदान्त दर्शन की विभिन्न दार्शनिक धाराओं में सत् शब्द प्रमुख रहा है। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"[१] अर्थात् सत् (परम तत्त्व) एक ही है– विप्र (विद्वान्) उसे अनेक रूप से कहते हैं। किन्तु दूसरी ओर स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर विकसित दर्शन परम्पराओं में, विशेषरूप से वैशेषिक दर्शन में द्रव्य शब्द प्रमुख रहा है। ज्ञातव्य है कि व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से सत् शब्द अस्तित्व का अथवा प्रकारान्तर से नित्यता या अपरिवर्तनशीलता का एवं द्रव्य शब्द परिवर्तनशीलता का सूचक है। सांख्यों एवं नैयायिकों ने इसके लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि न्यायसूत्र के भाष्यकार ने प्रमाण आदि १६ तत्त्वों के लिए सत् शब्द का प्रयोग भी किया है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन में क्रमशः तत्त्व, पदार्थ और द्रव्य शब्द ही अधिक प्रचलित रहे हैं। सांख्य दर्शन भी प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तथा इनसे उत्पन्न बुद्धि, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पञ्च तन्मात्राओं और पञ्च महाभूतों को तत्त्व ही कहता है। इस प्रकार स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर विकसित इन दर्शन-परम्पराओं में तत्त्व, पदार्थ, अर्थ और द्रव्य शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु इनमें अपने तात्पर्य को लेकर भिन्नता भी मानी गयी हैं। तत्त्व शब्द सबसे अधिक व्यापक है; उसमें पदार्थ और द्रव्य भी समाहित हैं। न्याय दर्शन में जिन तत्त्वों को माना गया है उनमें द्रव्य का उल्लेख प्रमेय के अन्तर्गत हुआ है। वैशेषिकसूत्र में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय–ये षट् पदार्थ और प्रकारान्तर से अभाव को मिलाकर सात पदार्थ कहे जाते हैं। इनमें भी द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन की ही अर्थ संज्ञा है। अतः सिद्ध होता है कि अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से तत्त्व की अपेक्षा पदार्थ और पदार्थ की अपेक्षा द्रव्य अधिक संकुचित है। तत्त्वों में पदार्थ का और पदार्थों में द्रव्य का समावेश होता है। सत् शब्द का इससे भी अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। वस्तुतः जो भी अस्तित्ववान् है, वह सत् के अन्तर्गत आ जाता है। अतः सत् शब्द, तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य आदि शब्दों की अपेक्षा भी अधिक व्यापक अर्थ का सूचक है।

उपर्युक्त विवेचन से एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि जो दर्शनधाराएँ अभेदवाद की ओर अग्रसर हुईं, उनमें 'सत्' शब्द की प्रमुखता रही, जब कि जो धाराएँ भेदवाद की ओर अग्रसर हुईं, उनमें 'द्रव्य' शब्द की प्रमुखता रही।

---

१. ऋग्वेद १/१६४/४९

सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ के अनुसार तत्त्वार्थ में उमास्वाति ने 'सत् द्रव्यलक्षणं' कहकर दोनों में अभेद स्थापित किया है[१] फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ 'सत्' शब्द एक सामान्य अपरिवर्तनशील सत्ता का सूचक है वहाँ 'द्रव्य' शब्द विशेष परिवर्तनशील सत्ता का सूचक है। जैन आगमों के टीकाकार अभयदेवसूरि ने और उनके पूर्व तत्त्वार्थभाष्य (१/३५) में 'उमास्वाति' ने 'सर्वं एकं सद् विशेषात्' कहकर सत् शब्द से सभी द्रव्यों के सामान्य लक्षण अस्तित्व को सूचित किया है। अतः यह स्पष्ट है कि सत् शब्द अभेद या सामान्य का सूचक है और द्रव्य शब्द विशेष का। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन दार्शनिकों की दृष्टि में सत् और द्रव्य शब्द में तादात्म्य सम्बन्ध है। सत्ता की अपेक्षा वे अभिन्न हैं; उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। क्योंकि सत् अर्थात् अस्तित्व के बिना द्रव्य भी नहीं हो सकता है। दूसरी ओर द्रव्य (सत्ता-विशेष) के बिना सत् की तथा सत् के बिना द्रव्य की और द्रव्य के बिना अस्तित्व की सत्ता नहीं हो सकती है। अस्तित्व या सत्ता की अपेक्षा से तो सत् और द्रव्य दोनों अभिन्न हैं। यही कारण है कि उमास्वाति ने सत् को द्रव्य का लक्षण कहा था। स्पष्ट है कि लक्षण और लक्षित भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं।

वस्तुतः सत् और द्रव्य दोनों में इनके व्युत्पत्तिपरक अर्थ की अपेक्षा से ही भेद है, अस्तित्व या सत्ता की अपेक्षा से भेद नहीं है। हम उनमें केवल विचार की अपेक्षा से भेद कर सकते हैं, सत्ता की अपेक्षा से नहीं। सत् और द्रव्य अन्योन्याश्रित हैं, फिर भी वैचारिक स्तर पर हमें यह मानना होगा कि सत् एक ऐसा लक्षण है जो विभिन्न द्रव्यों में अभेद की स्थापना करता है, किन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सत् द्रव्य का एकमात्र लक्षण नहीं है। द्रव्य में अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य लक्षण भी हैं, जो एक द्रव्य को दूसरे से पृथक् करते हैं। अस्तित्व लक्षण की अपेक्षा से सभी द्रव्य एक हैं किन्तु अन्य लक्षणों की अपेक्षा से वे एक-दूसरे से पृथक् भी हैं। जैसे चेतना लक्षण जीव और अजीव में भेद करता है। द्रव्य में सत् लक्षण की अपेक्षा से अभेद और अन्य लक्षणों से भेद मानना, यही जैन-दर्शन की अनेकान्तिक दृष्टि की विशेषता है।

अर्धमागधी आगम स्थानांग और समवायांग[२] में जहाँ अभेद-दृष्टि के आधार पर जीव द्रव्य को एक कहा गया है, वहीं उत्तराध्ययन के ३६वें अध्याय में भेद-दृष्टि से जीव द्रव्य में भी भेद किये गये हैं।

जहाँ तक जैन दार्शनिकों का प्रश्न है, वे सत् और द्रव्य दोनों ही शब्दों को न केवल स्वीकार

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ५/२९

२. (अ) स्थानांग १/१ (ब), समवायांग १/१

करते हैं, अपितु उनको एक-दूसरे से समन्वित भी करते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सत् शब्द सत्ता के अपरिवर्तनशील पक्ष को और द्रव्य शब्द परिवर्तनशील पक्ष को स्पष्ट करता है। क्योंकि द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए–'द्रवति इति द्रव्यम्' कहकर ही उसे परिभाषित किया जाता है। जैनाचार्यों ने सत् को द्रव्य का लक्षण कहकर द्रव्य के परिणामी नित्य होने की ही पुष्टि की है। तत्त्वार्थसूत्र में भी उमास्वाति ने 'सत् द्रव्य लक्षणम्' कहकर सत्ता को परिणामी नित्य मानने के अनेकान्तिक दृष्टिकोण को ही प्रस्तुत किया है।

यहाँ हम सर्वप्रथम सत् के स्वरूप का विश्लेषण करेंगे, उसके बाद द्रव्यों की चर्चा करेंगे।

सत् का स्वरूप :

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि जैन दार्शनिकों ने सत्, तत्त्व और द्रव्य इन तीनों को पर्यायवाची माना है, किन्तु इनके शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से इन तीनों में अन्तर है। सत् वह सामान्य लक्षण है, जो सभी द्रव्यों और तत्त्वों में पाया जाता है एवं द्रव्यों के भेद में भी अभेद को प्रधानता देता है। जहाँ तक तत्त्व का प्रश्न है, वह भेद और अभेद दोनों को अथवा सामान्य और विशेष दोनों को स्वीकार करता है। सत् में कोई भेद नहीं किया जाता, जब कि तत्त्व में भेद किया जाता है। जैन आचार्यों ने तत्त्वों की चर्चा के प्रसंग पर न केवल जड़ और चेतन द्रव्यों अर्थात् जीव और अजीव द्रव्यों की चर्चा की, अपितु आस्रव, संवर आदि द्वारा उनके पारस्परिक सम्बन्धों की भी चर्चा की है। तत्त्व की दृष्टि से न केवल जीव और अजीव में भेद माना गया अपितु जीवों में भी परस्पर भेद माना गया, वहीं दूसरी ओर आस्रव, बन्ध आदि के प्रसंग में उनके तादात्म्य या अभेद को भी स्वीकार किया गया। किन्तु जहाँ तक 'द्रव्य' शब्द का प्रश्न है वह सामान्य होते हुए भी द्रव्यों की लक्षणगत् विशेषताओं के आधार पर उनमें भेद करता है। 'सत्' शब्द सामान्यात्मक है, तत्त्व शब्द सामान्य-विशेष उभयात्मक है और द्रव्य विशेषात्मक है। पुनः सत् शब्द सत्ता के अपरिवर्तनशील पक्ष का, द्रव्य शब्द परिवर्तनशील पक्ष का और तत्त्व शब्द उभय-पक्ष का सूचक है। जैनों की नयों की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो सत् शब्द संग्रहनय का, तत्त्व नैगमनय का और द्रव्य शब्द व्यवहारनय का सूचक है। चूँकि जैन-दर्शन भेद, भेदाभेद और अभेद तीनों को स्वीकार करता है, अतः उसने अपने चिन्तन में इन तीनों को स्थान दिया है। यद्यपि अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से सत् शब्द सत्ता केअपरिवर्तनशील, सामान्य एवं अभेदात्मक पक्ष का सूचक है और द्रव्य शब्द, परिवर्तनशील, विशेष एवं भेदात्मक पक्ष का सूचक है। किन्तु जैनधर्म के अनेकान्तवाद के सिद्धान्त की अपेक्षा से सत् अथवा द्रव्य को एकान्त परिवर्तनशील, विशेष या भेदात्मक नहीं कहा जा सकता है। सत् या द्रव्य के स्वरूप को लेकर भारतीय दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। कोई उसे

अपरिवर्तनशील मानता है, तो कोई उसे परिवर्तनशील, कोई उसे एक कहता है, तो कोई अनेक, कोई उसे जड़ कहता है, तो कोई उसे चेतन। वस्तुतः सत्, परमतत्त्व या परमार्थ के स्वरूप सम्बन्धी इन विभिन्न दृष्टिकोणों के मूल में प्रमुखरूप से तीन प्रश्न रहे हैं। प्रथम प्रश्न उसके एकत्व अथवा अनेकत्व का है। दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध उसके परिवर्तनशील या अपरिवर्तशील होने से है। तीसरे प्रश्न का विवेच्य उसके चित् या अचित् होने से है। ज्ञातव्य है कि अधिकांश भारतीय दर्शनों ने चित्-अचित्, जड़-चेतन या जीव-अजीव दोनों तत्त्वों या द्रव्यों को स्वीकार किया है अतः यह प्रश्न अधिक चर्चित नहीं बना, फिर भी इन सब प्रश्नों केदिये गये उत्तरों केपरिणामस्वरूप भारतीय चिन्तन में सत् या द्रव्य के स्वरूप में विविधता आ गयी।

सत् या द्रव्य के परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील पक्ष की समीक्षा :

सत् या द्रव्य के परिवर्तनशील अथवा अपरिवर्तनशील स्वरूप के सम्बन्ध में दो अतिवादी अवधारणाएँ हैं। एक धारणा यह है कि सत् निर्विकार एवं अव्यय है। त्रिकाल में उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इन विचारकों का कहना है कि जो परिवर्तित होता है, वह सत् नहीं हो सकता। परिवर्तन का अर्थ ही है कि पूर्व अवस्था की समाप्ति और नवीन अवस्था का ग्रहण। इन दार्शनिकों का कहना है कि जिसमें उत्पाद एवं व्यय की प्रक्रिया हो, उसे सत् नहीं कहा जा सकता। जो अवस्थान्तर को प्राप्त हो उसे सत् कैसे कहा जाये ? इस सिद्धान्त के विरोध में जो सिद्धान्त अस्तित्व में आया वह सत् या द्रव्य की परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त है। इन विचारकों के अनुसार परिवर्तनशीलता या अर्थक्रियाकारित्व की सामर्थ्य ही द्रव्य या सत् का लक्षण है। जो गतिशील नहीं है, दूसरे शब्दों में जो अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति से हीन है, उसे द्रव्य या सत् नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक भारतीय दार्शनिक चिन्तन का प्रश्न है, कुछ औपनिषदिक चिन्तक और शंकर का अद्वैत वेदान्त सत्ता केअपरिवर्तनशील होने के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। आचार्य शंकर केअनुसार परम सत्ता निर्विकार और अव्यय है। वह उत्पाद और व्यय दोनों से रहित है। इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त बौद्ध-दार्शनिकों का है। वे सभी एकमत से स्वीकार करते हैं, कि सत् या सत्ता का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया से पृथक् कोई वस्तु या सत्ता नहीं हो सकती। जहाँ तक भारतीय चिन्तकों में सांख्य दर्शनिकों का प्रश्न है वे चित् तत्त्व या पुरुष को अपरिवर्तनशील या कूटस्थनित्य मानते हैं किन्तु उनकी दृष्टि में प्रकृति कूटस्थनित्य नहीं है, वह परिवर्तनशील तत्त्व है। इस प्रकार सांख्य दार्शनिक पुरुष को अपरिवर्तनशील मानते हैं और प्रकृति को परिवर्तनशील मानते हैं।

वस्तुतः सत्ता को निर्विकार और अव्यय मानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि उसके अनुसार जगत् को मिथ्या या असत् ही मानना होता है, क्योंकि हमारी अनुभूति का जगत् तो परिवर्तनशील है, इसमें कुछ भी ऐसा प्रतीत नहीं होता जो परिवर्तन से रहित हो। न केवल व्यक्ति और समाज, अपितु भौतिक पदार्थ भी प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। सत्ता को निर्विकार और अव्यय मानने का अर्थ है, जगत् की अनुभूतिगत विविधता को नकारना और कोई भी विचारक अनुभवात्मक परिवर्तनशीलता को नकार नहीं सकता। चाहे आचार्य शंकर कितने ही जोर से इस बात को रखें कि निर्विकार ब्रह्म ही सत्य है और परिवर्तनशील जगत् मिथ्या है,किन्तु आनुभविक स्तर पर कोई भी विचारक इसे स्वीकार नहीं कर सकेगा। अनुभूति के स्तर पर जो परिवर्तनशीलता की अनुभूति है, उसे कभी भी नकारा नहीं जा सकता। यदि सत्ता त्रिकाल में अविकारी और अपरिवर्तनशील हो, तो फिर वैयक्तिक जीवों या आत्माओं के बन्धन और मुक्ति की व्याख्या भी अर्थहीन हो जायेगी। धर्म और नैतिकता, दोनों का ही उन दर्शनों में कोई स्थान नहीं है, जो सत्ता को अपरिणामी मानते हैं। जैसे जीवन में बाल्यावस्था, युवावस्था और प्रौढ़ावस्था आती है, उसी प्रकार सत्ता में भी परिवर्तन घटित होते हैं। आज का हमारे अनुभव का विश्व वह नहीं है, जो हजार वर्ष पूर्व था, उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन घटित होते हैं। न केवल जगत् में, अपितु हमारे वैयक्तिक जीवन में भी परिवर्तन घटित होते रहते हैं, अतः अस्तित्व या सत्ता के सम्बन्ध में अपरिवर्तनशीलता की अवधारणा समीचीन नहीं है।

इसके विपरीत यदि सत् को क्षणिक या परिवर्तनशील माना जाता है तो भी कर्मफल या नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या सम्भव नहीं होती। यदि प्रत्येक क्षण स्वतन्त्र है, तो फिर हम नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या नहीं कर सकते। यदि व्यक्ति अथवा वस्तु अपने पूर्व क्षण की अपेक्षा उत्तर क्षण में पूर्णतः बदल जाती है, तो फिर हम किसी को, पूर्व में किए गये चोरी आदि कार्यों के लिए कैसे उत्तरदायी बना पायेंगे ?

सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन दार्शनिकों का इस धारणा के विपरीत यह कहना है कि उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति सम्भव नहीं है, दूसरे शब्दों में पूर्व-पर्याय के नाश के बिना उत्तर-पर्याय की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, किन्तु उत्पत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई वस्तुत्व होना चाहिये। एकान्त नित्य वस्तुत्व या द्रव्य में परिवर्तन सम्भव नहीं है और यदि पदार्थों को एकान्त क्षणिक माना जाये, तो परिवर्तित कौन होता है, यह नहीं बताया जा सकता। आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में इस दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए कहते हैं कि "एकान्त क्षणिकवाद में प्रेत्यभाव अर्थात् पुनर्जन्म असम्भव होगा और प्रेत्यभाव केअभाव में पुण्य-पाप के प्रतिफल और बन्धन-मुक्ति की अवधारणायें भी सम्भव नहीं होंगी। पुनः एकान्त क्षणिकवाद में प्रत्यभिज्ञा भी सम्भव नहीं और प्रत्यभिज्ञा के अभाव में कार्यारम्भ ही नहीं होगा,

फिर फल कहाँ से ? इस प्रकार इसमें बन्धन-मुक्ति, पुनर्जन्म को कोई स्थान नहीं है।[१] "युक्त्यानुशासान" में कहा गया है कि क्षणिकवाद संवृत्ति सत्य के रूप में भी बन्धन-मुक्ति आदि की स्थापना नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी दृष्टि में परमार्थ या सत् निःस्वभाव है। यदि परमार्थ निःस्वभाव है तो फिर व्यवहार का विधान कैसे होगा ?[२] आचार्य हेमचन्द्र ने 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' में क्षणिकवाद पर पाँच आक्षेप लगाये हैं— १. कृत-प्रणाश, २. अकृत-भोग, ३. भव-भंग, ४. प्रमोक्ष-भंग और ५. स्मृति-भंग।[३] यदि कोई नित्य सत्ता ही नहीं है और प्रत्येक सत्ता क्षणजीवी है तो फिर व्यक्ति द्वारा किये गये कर्मों का फलभोग कैसे सम्भव होगा, क्योंकि फलभोग केलिए कर्तृत्वकाल और भोक्तृत्वकाल में उसी व्यक्ति का होना आवश्यक है, अन्यथा कार्य कौन करेगा और फल कौन भोगेगा? वस्तुतः एकान्त क्षणिकवाद में अध्ययन कोई और करेगा, परीक्षा कोई और देगा, उसका प्रमाण-पत्र किसी और को मिलेगा, उस प्रमाण-पत्र केआधार पर नौकरी कोई अन्य व्यक्ति प्राप्त करेगा और जो वेतन मिलेगा वह किसी अन्य को। इसी प्रकार ऋण कोई अन्य व्यक्ति लेगा और उसका भुगतान किसी अन्य व्यक्ति को करना होगा।

यह सत्य है कि बौद्धदर्शन में सत्ता के अनित्य एवं क्षणिक स्वरूप पर अधिक बल दिया गया है। यह भी सत्य है कि भगवान् बुद्ध सत् को एक प्रक्रिया (Process) के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में विश्व मात्र एक प्रक्रिया (परिवर्तनशीलता) है, उस प्रक्रिया से पृथक् कोई कर्ता नहीं है। इसी प्रकार प्रक्रिया से अलग कोई सत्ता नहीं है, किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि बौद्धदर्शन के इन मन्तव्यों का आशय एकान्त क्षणिकवाद या उच्छेदवाद नहीं है। आलोचकों ने उसे उच्छेदवाद समझकर, जो आलोचना प्रस्तुत की है, चाहे वह उच्छेदवाद के सन्दर्भ में संगत हो, किन्तु बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में नितान्त असंगत है। बुद्ध सत् के परिवर्तनशील पक्ष पर बल देते हैं, किन्तु इस आधार पर उन्हें उच्छेदवाद का समर्थक नहीं कहा जा सकता। बुद्ध के इस कथन का कि "क्रिया है, कर्ता नहीं" का आशय यह नहीं है, कि वे कर्ता या क्रियाशील तत्त्व का निषेध करते हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्ता नहीं है। सत्ता और परिवर्तन में पूर्ण तादात्म्य है। सत्ता से भिन्न परिवर्तन और परिवर्तन से भिन्न सत्ता की स्थिति नहीं है। परिवर्तन और परिवर्तनशील सत्ता अन्योन्याश्रित हैं, दूसरे शब्दों में वे सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। वस्तुतः बौद्धदर्शन का सत्ता सम्बन्धी यह दृष्टिकोण जैन-दर्शन से उतना दूर नहीं है जितना माना गया है। बौद्धदर्शन में परम तत्त्व सत्ता को अनुच्छेद और अशाश्वत कहा गया है अर्थात् वे न उसे एकान्त अनित्य मानते हैं और न एकान्त नित्य। वह न अनित्य है और न नित्य है, जब कि जैन दार्शनिकों ने उसे नित्यानित्य

---

१. आप्तमीमांसा ४१

२. युक्त्यानुशासन, क्षणिकवादसमीक्षा प्रकरण

३. स्याद्वादमंजरी कारिका १८ की टीका

कहा है, किन्तु दोनों परम्पराओं का यह अन्तर निषेधात्मक अथवा स्वीकारात्मक भाषा-शैली का अन्तर है। बुद्ध और महावीर के कथन का मूल एक-दूसरे से उतना भिन्न नहीं है, जितना कि हम उसे मान लेते हैं। भगवान् बुद्ध का सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ मन्तव्य क्या था, इसकी विस्तृत चर्चा हमने "जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग-१ (पृ. १९२-१९४) में की है, इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं। सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रस्तुत विवेचना का मूल उद्देश्य मात्र इतना है कि सत्ता के सम्बन्ध में एकान्त अभेदवाद और एकान्त भेदवाद भी उन्हें मान्य नहीं हैं।

जैन दार्शनिकों केअनुसार सत्ता सामान्य-विशेषात्मक या भेदाभेदात्मक है। वह एक भी है और अनेक भी। वे भेद में अभेद और अभेद में भेद को स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में वे अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का दर्शन करते हैं। मानवता की अपेक्षा मनुष्यजाति एक है, किन्तु देश-भेद, वर्ण-भेद, वर्ग-भेद या व्यक्ति-भेद की अपेक्षा वह अनेक है। जैन दार्शनिकों के अनुसार एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है। यही कारण था कि जैन दार्शनिकों ने द्रव्यों की चर्चा करते हुए जीव-द्रव्य और पुद्गल-द्रव्य को स्वरूपतः परिणामी-नित्य माना और धर्म, अधर्म और आकाश में स्वतः अपरिवर्तनशीलता (निष्क्रियता) और जीव और पुद्गल के निमित्त से 'परिवर्तनशीलता' को माना। किन्तु जहाँ तक सामान्यतया द्रव्य का प्रश्न है, उसे स्वरूपतः परिवर्तनशील ही माना। सम्भवतः यही मूल कारण था कि जीव, पुद्गल, और काल को सक्रिय तथा धर्म, अधर्म और आकाश को निष्क्रिय द्रव्य कहा गया।

पंच अस्तिकाय और षट्द्रव्यों की अवधारणा :

जैनदर्शन में 'द्रव्य' के वर्गीकरण का एक आधार अस्तिकाय और अनास्तिकाय की अवधारणा भी है। षट्द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पाँच अस्तिकाय माने गये हैं, जब कि काल को अनास्तिकाय माना गया है। अधिकांश जैन दार्शनिकों केअनुसार काल का अस्तित्व तो है, किन्तु उसका पृथक् कायत्व नहीं है, अतः उसे अस्तिकाय के वर्ग में नहीं रखा जा सकता है। कुछ श्वेताम्बर आचार्यों ने तो काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के सम्बन्ध में भी आपत्ति उठाई है, उन्होंने काल को पर्याय रूप ही माना, किन्तु यह एक भिन्न विषय है, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

अस्तिकाय का तात्पर्य :

सर्वप्रथम तो हमारे सामने मूल प्रश्न यह है कि अस्तिकाय की इस अवधारणा का तात्पर्य क्या है? व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अस्तिकाय' दो शब्दों के मेल से बना है— अस्ति+काय। 'अस्ति' का अर्थ है सत्ता या अस्तित्व और 'काय' का अर्थ है शरीर, अर्थात् जो शरीर-रूप से अस्तित्ववान् है

वह अस्तिकाय है। किन्तु यहाँ 'काय' (शरीर) शब्द भौतिक शरीर केअर्थ में प्रयुक्त नहीं है, जैसा कि जन-साधारण समझता है। क्योंकि पंच-अस्तिकायों में पुद्‌गल को छोड़कर शेष चार तो अमूर्त्त हैं, अतः यह मानना होगा कि यहाँ काय शब्द का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में ही हुआ है। पंचास्तिकाय की टीका में कायत्व शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है– "कायत्वमाख्यं सावयवत्वम्" अर्थात् कायत्व का तात्पर्य सावयवत्व है[१]। जो अवयवी द्रव्य हैं वे अस्तिकाय हैं और जो निरवयवी द्रव्य हैं वे अनास्तिकाय हैं। अवयवी का अर्थ है अंगों से युक्त। दूसरे शब्दों में जिसमें विभिन्न अंग, अंश या हिस्से (पार्ट) हैं, वह अस्तिकाय है। यद्यपि यहाँ यह शंका उठाई जा सकती है कि अखण्ड द्रव्यों में अंश या अवयव की कल्पना कहाँ तक युक्ति-संगत होगी? ज़ैनदर्शन के पंच अस्तिकायों में से धर्म, अधर्म और आकाश को सावयवी होने का क्या तात्पर्य है? पुनश्च, कायत्व का अर्थ सावयवत्व मानने में एक कठिनाई यह भी है कि परमाणु तो अविभाज्य, निरंश और निरवयवी हैं, तो क्या वे अस्तिकाय नहीं हैं! जब कि जैनदर्शन् के अनुसार तो परमाणु को भी अस्तिकाय माना गया है। प्रथम प्रश्न का जैन दार्शनिकों का प्रत्युत्तर यह होगा कि यद्यपि धर्म, अधर्म और आकाश अविभाज्य एवं अखण्ड द्रव्य हैं, किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा से धर्म और अधर्म लोकव्यापी हैं तथा आकाश लोकालोकव्यापी है, अतः क्षेत्र की दृष्टि से इनमें सावयवत्व की अवधारणा या विभाग की कल्पना की जा सकती है। यद्यपि यह केवल वैचारिक स्तर पर की गई कल्पना या विभाजन है। दूसरे प्रश्न का प्रत्युत्तर यह होगा कि यद्यपि परमाणु स्वयं में निरंश, अविभाज्य और निरवयव हैं, अतः स्वयं तो कायरूप नहीं हैं, किन्तु वे ही परमाणु-स्कन्ध बनकर कायत्व या सावयवत्व को धारण कर लेते हैं। अतः उपचार से उनमें भी कायत्व का सद्भाव मानना चाहिये। पुनः परमाणु में भी दूसरे परमाणु को स्थान देने की अवगाहन शक्ति है, अतः उसमें कायत्व का सद्भाव है। जैन दार्शनिकों ने अस्तिकाय और अनास्तिकाय के वर्गीकरण का एक आधार बहुप्रदेशत्व भी माना है। जो बहुप्रदेशी द्रव्य हैं, वे अस्तिकाय हैं और जो एक प्रदेशी द्रव्य हैं, वे अनास्तिकाय हैं। अस्तिकाय और अनास्तिकाय की अवधारणा में इस आधार को स्वीकार कर लेने पर भी पूर्वोक्त कठिनाईयाँ बनी रहती हैं। प्रथम तो धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों स्व-द्रव्य अपेक्षा से तो अप्रदेशी हैं, क्योंकि अखण्ड हैं। पुनः परमाणु पुद्‌गल भी एक प्रदेशी हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में उसे अप्रदेशी भी कहा गया है। क्या इन्हें अस्तिकाय नहीं कहा जायेगा? यहाँ भी जैन दार्शनिकों का संभावित प्रत्युत्तर वही होगा जो कि पूर्व प्रसंग में दिया गया है; धर्म, अधर्म और आकाश में बहुप्रदेशत्व द्रव्यापेक्षा से नहीं, अपितु क्षेत्र की अपेक्षा से है।

द्रव्यसंग्रह में कहा गया है–

---

१. पंचास्तिकाय गाथा ५ की टीका

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवड्डद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।। द्रव्यसंग्रह, २९

प्रो. जी. आर. जैन भी लिखते हैं— Pradesa is the unit of space occupied by one indivisible atom of matter. अर्थात् प्रदेश आकाश की वह सबसे छोटी इकाई है, जो एक पुद्गल परमाणु घेरता है। विस्तारवान् होने का अर्थ है, क्षेत्र में प्रसारित होना। क्षेत्र अपेक्षा से ही धर्म और अधर्म को असंख्य प्रदेशी और आकाश को अनन्त प्रदेशी कहा गया है, अतः उनमें भी उपचार से कायत्व की अवधारणा की जा सकती है। पुद्गल का जो बहुप्रदेशीपन है वह परमाणु की अपेक्षा से न होकर स्कन्ध की अपेक्षा से है। इसीलिए पुद्गल को अस्तिकाय कहा गया है न कि परमाणु को। परमाणु तो स्वयं पुद्गल का एक अंश या प्रकार मात्र है। पुनः प्रत्येक पुद्गल परमाणु में अनन्त पुद्गल परमाणुओं केअवगाहन अर्थात् अपने में समाहित करने की शक्ति है—इसका तात्पर्य यह है कि पुद्गल परमाणु में प्रदेश-प्रचयत्व है चाहे वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो। जैन आचार्यों ने स्पष्टतः यह माना है कि जिस आकाश प्रदेश में एक पुद्गल परमाणु रहता है, उसी में अनन्त पुद्गल परमाणु समाहित हो जाते हैं; अतः परमाणु को भी अस्तिकाय माना जा सकता है।

वस्तुतः इस प्रसंग में कायत्व का अर्थ विस्तारयुक्त होना ही है। जो द्रव्य विस्तारवान् हैं, वे अस्तिकाय हैं और जो विस्तार रहित हैं, वे अनास्तिकाय हैं। विस्तार की यह अवधारणा क्षेत्र की अवधारणा पर आश्रित है। वस्तुतः कायत्व के अर्थ के स्पष्टीकरण में सावयवत्व एवं सप्रदेशत्व की जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं, वे सभी क्षेत्र केअवगाहन की संकल्पना से संबन्धित हैं। विस्तार का तात्पर्य है क्षेत्र का अवगाहन। जो द्रव्य जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है, वही उसका विस्तार प्रदेशप्रचयत्व या कायत्व है। विस्तार का प्रचय दो प्रकार का माना गया है—ऊर्ध्व प्रचय और तिर्यक् प्रचय। आधुनिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः ऊर्ध्व को एकरेखीय विस्तार (Lingitudinal Extension) और तिर्यक् को बहुआयामी विस्तार (Multidimensional Extension) कहा जा सकता है। अस्तिकाय की अवधारणा में प्रचय या विस्तार को जिस अर्थ में ग्रहण किया जाता है, वह बहुआयामी विस्तार है न कि ऊर्ध्व एकरेखीय विस्तार। जैन दार्शनिकों ने केवल उन्हीं द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है, जिनका तिर्यक् प्रचय या बहुआयामी विस्तार है। काल में केवल ऊर्ध्व-प्रचय या एक-आयामी विस्तार है, अतः उसे अस्तिकाय नहीं माना गया है। यद्यपि प्रो. जी. आर. जैन ने काल को एक-आयामी (Mono-dimensional) और शेष को द्वि-आयामी (Two-dimensional) माना है किन्तु मेरी दृष्टि में शेष द्रव्य त्रि-आयामी हैं, क्योंकि वे स्कन्धरूप हैं, अतः उनमें लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई के रूप में तीन आयाम होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि जिन द्रव्यों में त्रि-आयामी विस्तार है, वे ही अस्तिकाय द्रव्य हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि काल भी लोकव्यापी है फिर उसे अस्तिकाय क्यों नहीं माना गया ? इसका प्रत्युत्तर यह है कि यद्यपि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर कालाणु स्थित

हैं, किन्तु प्रत्येक कालाणु (Time grains) अपने आप में एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वे परस्पर निरपेक्ष हैं, अर्थात् उनके स्कन्ध नहीं बनते हैं। स्कन्ध के अभाव में उनमें प्रदेश प्रचयत्व की कल्पना सम्भव नहीं है, अतः वे अस्तिकाय द्रव्य नहीं हैं। काल-द्रव्य को अस्तिकाय इसलिए नहीं कहा गया उसमें स्वरूपतः और उपचारतः—दोनों ही प्रकार के प्रदेश प्रचयत्व की कल्पना का अभाव है।

यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त ने पुद्गल (Matter) का गुण विस्तार (Extension) माना है, किन्तु जैनदर्शन की विशेषता तो यह है कि वह आत्मा, धर्म, अधर्म और आकाश जैसे अमूर्त्त-द्रव्यों में भी विस्तार की अवधारणा को स्वीकार करता है। इनके विस्तारवान् (कायत्व से युक्त) होने का अर्थ है, वे दिक् (Space) में प्रसारित या व्याप्त हैं। धर्म एवं अधर्म तो एक महास्कन्ध के रूप में संपूर्ण लोकाकाश के सीमित असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में प्रसारित या व्याप्त है। आकाश तो स्वतः ही अनन्त प्रदेश होकर लोक एवं अलोक में विस्तारित है, अतः इसमें भी कायत्व की अवधारणा सम्भव है। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, देकार्त उसमें 'विस्तार' को स्वीकार नहीं करता है, किन्तु जैनदर्शन उसे विस्तारयुक्त मानता है। क्योंकि आत्मा जिस शरीर को अपना आवास बनाता है, उसमें वह समग्रतः व्याप्त हो जाता है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि शरीर के अमुक भाग में आत्मा है और अमुक भाग में नहीं है, वह अपने चेतना लक्षण से संपूर्ण शरीर को व्याप्त करता है। अतः उसमें विस्तार है, वह अस्तिकाय है। हमें इस भ्रान्ति को निकाल देना चाहिये कि केवल मूर्त्त-द्रव्य का ही विस्तार होता है, अमूर्त्त का नहीं। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अमूर्त्त-द्रव्य का विस्तार होता है। वस्तुतः अमूर्त्त-द्रव्य के विस्तार की कल्पना उसके लक्षणों या कार्यों (Functions) के आधार पर की जा सकती है, जैसे धर्म-द्रव्य का कार्य गति को सम्भव बनाना है, वह गति का माध्यम माना गया है। अतः जहाँ-जहाँ गति है या गति सम्भव है, वहाँ-वहाँ धर्म-द्रव्य की उपस्थिति एवं विस्तार है यह माना जा सकता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि किसी द्रव्य को अस्तिकाय कहने का तात्पर्य यह है कि वह द्रव्य दिक् में प्रसारित है या प्रसारण की क्षमता से युक्त है। विस्तार की उपस्थिति में ही प्रदेश प्रचयत्व तथा सावयवता की सिद्धि होती है। अतः जिन द्रव्यों में विस्तार या प्रसार का लक्षण है, वे अस्तिकाय हैं।

अब एक प्रश्न यह शेष रहता है कि काल को अस्तिकाय क्यों नहीं माना जा सकता ? यद्यपि अनादि भूत से लेकर अनन्त भविष्य तक काल के विस्तार का अनुभव किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उसमें कायत्व का आरोपण सम्भव नहीं है। क्योंकि काल का प्रत्येक घटक अपनी स्वतन्त्र और पृथक् सत्ता रखता है। जैनदर्शन की पारम्परिक परिभाषा में कालाणुओं में स्निग्ध एवं रुक्ष गुण का अभाव होने के कारण उनका कोई स्कन्ध या संघात नहीं बन सकता है। यदि उनके स्कन्ध की परिकल्पना भी कर ली जाये तो पर्याय-समय की सिद्धि नहीं होती है। पुनः काल के

वर्तना लक्षण की सिद्धि केवल वर्तमान में ही होती है और वर्तमान अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः काल में विस्तार (प्रदेश प्रचयत्व) नहीं माना जा सकता और इसलिए वह अस्तिकाय भी नहीं है।

अस्तिकायों के प्रदेश प्रचयत्व का अल्पबहुत्व :

ज्ञातव्य है कि सभी अस्तिकाय द्रव्यों का विस्तार-क्षेत्र समान नहीं है, उसमें भिन्नताएँ हैं। जहाँ आकाश का विस्तार-क्षेत्र लोक और अलोक दोनों हैं वहाँ धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य केवल लोक तक ही सीमित हैं। पुद्गल पिण्डों एवं जीव का विस्तार-क्षेत्र उसके द्वारा गृहीत शरीर के आकार पर निर्भर करता है। इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव अस्तिकाय होते हुए भी उनका विस्तार-क्षेत्र या कायात्व समान नहीं है। जैन दार्शनिकों ने उनमें प्रदेश दृष्टि से भिन्नता स्पष्ट की है। भगवतीसूत्र[१] में बताया गया है कि धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य के प्रदेश अन्य द्रव्यों की अपेक्षा सबसे कम हैं। वे लोक आकाश तक (Within the limits of universe) सीमित हैं और असंख्य प्रदेशी हैं। आकाश की प्रदेश संख्या इन दोनों की अपेक्षा अनन्त गुणा अधिक मानी गयी है। आकाश अनन्त प्रदेशी है, क्योंकि वह ससीम लोक (Finite universe) तक सीमित नहीं है। उसका विस्तार आलोक में भी है। पुनः आकाश की अपेक्षा समग्रतः जीव द्रव्य के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक हैं, क्योंकि प्रथम तो यह कि जहाँ धर्म, अधर्म और आकाश एकल-द्रव्य हैं वहाँ जीव अनन्त-द्रव्य हैं क्योंकि जीव अनन्त हैं। पुनः प्रत्येक जीव के असंख्य प्रदेश हैं। प्रत्येक जीव में अपने आत्मप्रदेशों से संपूर्ण लोक को व्याप्त करने की क्षमता है। जीव-द्रव्य के प्रदेशों की अपेक्षा भी पुद्गल-द्रव्य के प्रदेश अनन्त गुणा अधिक हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव के साथ अनन्त कर्म-पुद्गल संयोजित हैं। यद्यपि काल की प्रदेश-संख्या पुद्गल की अपेक्षा भी अनन्त गुणी मानी गयी, क्योंकि प्रत्येक जीव और पुद्गल-द्रव्य की वर्तमान, अनादि भूत और अनन्त भविष्य की दृष्टि से अनन्त पर्यायें होती हैं, अतः काल की प्रदेश-संख्या सर्वाधिक होनी चाहिये, फिर भी कालाणुओं का समावेश पुद्गल-द्रव्य के प्रदेशों में होने की वजह से अस्तिकाय में पुद्गल-द्रव्य के प्रदेशों की संख्या ही सर्वाधिक मानी गई है।

इस समग्र विवेचन से यह ज्ञात होता है कि अस्तिकाय की अवधारणा और द्रव्य की अवधारणा के वर्ण्य-विषय समान हैं। मात्र काल को ही अनास्तिकाय कहा गया है। शेष पाँच अस्तिकायों में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को द्रव्य भी माना गया है। वास्तविकता तो यह है कि पञ्च अस्तिकायों की अवधारणा में 'काल' को जोड़कर जैन दार्शनिकों ने षट्द्रव्यों की अवधारणा निश्चित की है।

षट्द्रव्य :

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि प्रारम्भ में जैन-दर्शन में पञ्च अस्तिकाय की अवधारणा ही थी। अपने इतिहास की दृष्टि से यह अवधारणा पार्श्वयुगीन थी। 'इसिभासियाइं' के पार्श्व नामक इकतीसवें अध्याय में पार्श्व के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रस्तुतीकरण करते हुए विश्व के मूल घटकों के रूप में

---

१. भगवतीसूत्र ११/१०/१००-१०३

पंचस्तिकायों का उल्लेख हुआ है। भगवतीसूत्र में महावीर ने पार्श्व की इसी अवधारणा का पोषण करते हुए यह माना था कि लोक पंचास्तिकायरूप है[१]। यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जैन-दर्शन में काल को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया था। उसे जीव एवं पुद्गल की पर्याय के रूप में ही व्याख्यायित किया जाता था। प्राचीन स्तर के आगमों में उत्तराध्ययन (२८/७) ही एक ऐसा आगम है जहाँ काल को सर्वप्रथम एक स्वतन्त्र द्रव्य रूप में स्वीकार किया गया है। यह स्पष्ट है कि जैन-परम्परा में उमास्वाति के काल तक, काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं, इस प्रश्न को लेकर मतभेद था। इस प्रकार जैन आचार्यों में तृतीय-चतुर्थ शताब्दी तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएँ चल रही थीं। कुछ विचारक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे। तत्त्वार्थसूत्र का भाष्यमान पाठ 'कालश्चेत्येके' का निर्देश करता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि कुछ विचारक काल को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानने लगे थे। लगता है कि लगभग पाँचवी शताब्दी में आकर काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया था और यही कारण था कि सर्वार्थसिद्धिकार ने 'कालश्चेत्येके' सूत्र के स्थान पर 'कालश्च' इस सूत्र को मान्य किया था। जब श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मान लिया गया, तो जहाँ अस्तिकाय और द्रव्य शब्दों के वाच्य विषयों में एक अन्तर आ गया। अस्तिकाय के अन्तर्गत जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये पाँच ही द्रव्य माने गये, वहाँ द्रव्य की अवधारणा के अन्तर्गत जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ये षट्द्रव्य माने गये। वस्तुतः अस्तिकाय की अवधारणा जैन-परम्परा की अपनी मौलिक और प्राचीन अवधारणा थी। उसे जब वैशेषिक दर्शन की द्रव्य की अवधारणा के साथ स्वीकृत किया गया, तो प्रारम्भ में तो पाँच अस्तिकायों को ही द्रव्य माना गया किन्तु जब काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई तो द्रव्यों की संख्या पाँच से बढ़कर छह हो गई। चूँकि आगमों में कहीं भी अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत काल की गणना नहीं थी, अतः काल को अनास्तिकाय वर्ग में रखा गया और यह मान लिया कि काल जीव और पुद्गल के परिवर्तनों का निमित्त है और कालाणु तिर्यक् प्रदेश प्रचयत्व से रहित है अतः वह अनास्तिकाय है। इस प्रकार द्रव्यों के वर्गीकरण में सर्वप्रथम दो प्रकार के वर्ग बने– १. अस्तिकाय द्रव्य और २. अनास्तिकाय द्रव्य। अस्तिकाय द्रव्यों के वर्ग के अन्तर्गत जीव, धर्म, अधर्म आकाश और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों को रखा गया और अनास्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत काल को रखा गया। आगे चलकर द्रव्यों के वर्गीकरण का आधार चेतना-लक्षण और मूर्तता-लक्षण को भी माना गया। चेतना-लक्षण की दृष्टि से जीव को चेतन द्रव्य और शेष पाँच—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल को अचेतन द्रव्य कहा गया। इसी प्रकार मूर्तत्व-लक्षण की अपेक्षा से पुद्गल को मूर्त द्रव्य और शेष पाँच—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अमूर्त-द्रव्य माना गया। इस प्रकार द्रव्यों के वर्गीकरण की तीन शैलियाँ अस्तित्व में आईं, जिन्हें हम अगले पृष्ठ पर सारणियों के आधार पर स्पष्टतया समझ सकते हैं :

---

१. भगवतीसूत्र १३/४/५५

१. अस्तिकाय की अवधारणा के आधार पर :

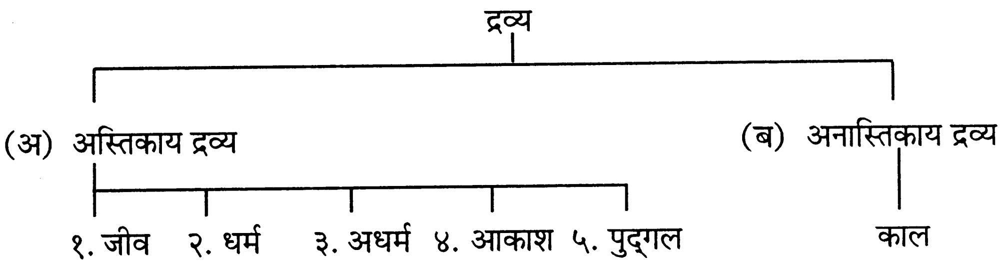

२. मूर्तता लक्षण के आधार पर :

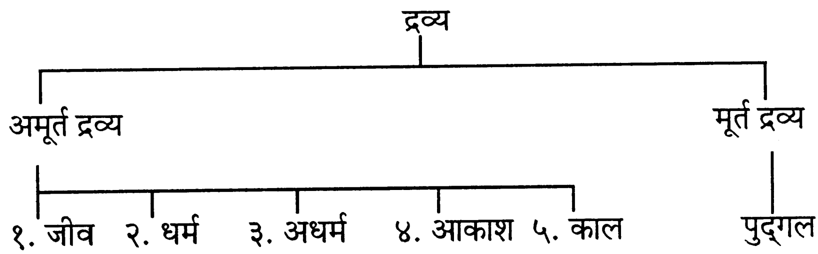

३. चेतन-अचेतन लक्षण के आधार पर :

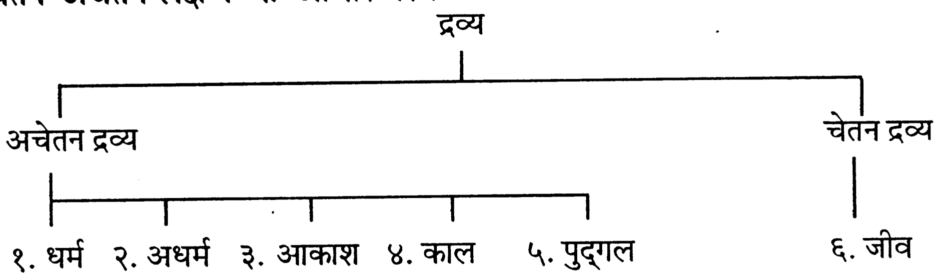

द्रव्यों के उपर्युक्त वर्गीकरण के पश्चात् इन षट्द्रव्यों के स्वरूप और लक्षण पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

जीव द्रव्य :

जीव द्रव्य को अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है। जीव द्रव्य का लक्षण उपयोगया चेतना को माना गया है। इसलिए इसे चेतनद्रव्य भी कहा जाता है। उपयोग या चेतना के दो प्रकारों की चर्चा ही आगमों में मिलती है—निराकार उपयोग और साकार उपयोग। इन दोनों को क्रमशः दर्शन और ज्ञान कहा जाता है। निराकार उपयोग को वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करने केकारण दर्शन कहा जाता है और साकार उपयोग को वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का ग्रहण करने केकारण ज्ञान कहा जाता है। जीव द्रव्य के सन्दर्भ में जैनदर्शन की विशेषता यह है कि जीव द्रव्य को एक अखण्ड द्रव्य न मानकर अनेक द्रव्य मानता है। उसकेअनुसार प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता है और विश्व में जीवों की संख्या अनन्त है। इस प्रकार संक्षेप में जीव अस्तिकाय, चेतन, अरूपी और अनेक द्रव्य हैं।

आत्मा का अस्तित्व :

जैन-दर्शन में प्रत्येक जीव या आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना गया है। जहाँ तक हमारे आध्यात्मिक जीवन का प्रश्न है आत्मा के अस्तित्व पर शंका करके आगे बढ़ना असम्भव है। जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास की पहली शर्त आत्मविश्वास है। विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं—

(१) जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है, क्योंकि असत् की कोई सार्थक संज्ञा ही नहीं बनती।[१]

(२) जीव है या नहीं, यह सोचना मात्र ही जीव की सत्ता को सिद्ध करता है। देवदत्त जैसा सचेतन प्राणी ही यह सोच सकता है कि वह स्तंभ है या पुरुष।[२]

(३) शरीर स्थित जो यह सोचता है कि "मैं नहीं हूँ" वही तो जीव है। जीव के अतिरिक्त संशयकर्ता अन्य कोई नहीं है। यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव ही कैसे हो कि 'मैं हूँ या नहीं हूँ' ? जो निषेध कर रहा है वह स्वयं ही आत्मा है। संशय के लिए किसी ऐसे तत्त्व के अस्तित्व की अनिवार्यता है जो उसका आधार हो। बिना अधिष्ठान के कोई विचार या चिन्तन सम्भव नहीं हो सकता। संशय का अधिष्ठान कोई न कोई अवश्य होना चाहिए। भगवान महावीर गौतम से कहते हैं, हे गौतम ! यदि कोई संशयकर्ता ही नहीं है तो "मैं हूँ" या "नहीं हूँ" यह संशय कहाँ से उत्पन्न होता है ? यदि तुम स्वयं अपने ही विषय में संदेह कर सकते हो तो फिर किसमें संशय न होगा। क्योंकि संशय आदि जितनी भी मानसिक और बौद्धिक क्रियाएँ हैं, वे सब आत्मा के कारण ही हैं। जहाँ संशय होता है, वहाँ आत्मा का अस्तित्व अवश्य स्वीकारना पड़ता है। वस्तुतः जो प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। आत्मा स्वयं सिद्ध है, क्योंकि उसी के आधार पर संशयादि उत्पन्न होते हैं। सुख-दुःखादि को सिद्ध करने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। ये सब आत्मपूर्वक ही हो सकते हैं।[३] आचारांग सूत्र में कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है, वही तो आत्मा है।[४]

आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य में ऐसे ही तर्क देते हुए कहते हैं कि जो निरसन कर रहा है वही तो उसका स्वरूप है।[५] आत्मा के अस्तित्व के लिए स्वतः बोध को आचार्य शंकर भी एक प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि सभी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, कोई भी ऐसा नहीं है जो यह सोचता हो कि "मैं नहीं हूँ"।[६] अन्यत्र शंकर स्पष्ट रूप से

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, १५७५
२. वही, १५७१
३. जैनदर्शन, पृ. १५४
४. आचारांग सूत्र, १/५/५/१६६
५ ब्रह्मसूत्र, शंकर भाष्य, ३/१/७
६. वही, १/१/२

यह भी कहते हैं कि बोध से सत्ता को और सत्ता से बोध को पृथक् नहीं किया जा सकता।[१] यदि हमें आत्मा का स्वतः बोध होता है तो उसकी सत्ता निर्विवाद है।

पाश्चात्य विचारक देकार्त ने भी इसी तर्क केआधार पर आत्मा केअस्तित्व को सिद्ध किया है। वह कहता है कि सभी के अस्तित्व में संदेह किया जा सकता है, परन्तु संदेहकर्ता के अस्तित्व में संदेह करना तो सम्भव नहीं है, संदेह का अस्तित्व संदेह से परे है। संदेह करना विचार करना है और विचारक केअभाव में विचार नहीं हो सकता। 'मैं विचार करता हूँ', अतः 'मैं हूँ'। इस प्रकार देकार्त केअनुसार भी आत्मा का अस्तित्व स्वयं-सिद्ध है।[२]

आत्मा अमूर्त्त है, अतः उसको उस रूप में तो नहीं जान सकते जैसे पट आदि वस्तुओं का इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में ज्ञान होता है। लेकिन इतने मात्र से उसका निषेध नहीं किया जा सकता। जैन आचार्यों ने इसके लिए गुण और गुणी का तर्क दिया है। घट आदि जिन वस्तुओं को हम जानते हैं, उनका भी यर्थाथ बोध प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि हमें जिनका बोध प्रत्यक्ष होता है, वह घट के रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष है। लेकिन घट मात्र रूप नहीं है, वह तो अनेक गुणों का समूह है जिन्हें हम नहीं जानते, रूप (आकार) तो उनमें से एक गुण है। जब रूपगुण के प्रत्यक्षीकरण को घट का प्रत्यक्षीकरण मान लेते हैं और हमें कोई संशय नहीं होता, तो फिर ज्ञानगुण से आत्मा का प्रत्यक्ष क्यों नहीं मान लेते।[३]

आधुनिक वैज्ञानिक भी अनेक तत्त्वों का वास्तविक बोध प्रत्यक्ष से नहीं कर पाते हैं जैसे ईथर; फिर भी कार्यों केआधार पर उनका अस्तित्व मानते हैं एवं उनकेस्वरूप का विवेचन भी करते हैं। फिर आत्मा के चेतनात्मक कार्यों के आधार पर उसकेअस्तित्व को क्यों न स्वीकार किया जाये ? वस्तुतः आत्मा या चेतना केअस्तित्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विवाद का विषय नहीं है। भारतीय चिन्तकों में चार्वाक एवं बौद्ध तथा पाश्चात्य चिन्तकों में ह्यूम, जेम्स आदि विचारक आत्मा का निषेध करते हैं। वस्तुतः उनका निषेध आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं, वरन् उसकी नित्यता का निषेध है। वे आत्मा को एक स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व मानने का निषेध करते हैं। बौद्ध अनात्मवाद की प्रतिस्थापना में आत्मा (चेतना) का निषेध नहीं करते, वरन् उसकी नित्यता का निषेध करते हैं। ह्यूम भी अनुभूति से भिन्न किसी स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व का ही निषेध करते हैं। उद्योतकर का 'न्यायवार्तिक' में

---

१. वही, ३/२/२१; तुलना कीजिए-आचारांग १/५/५

२. पश्चिमी दर्शन, पृ. १०६

३. विशेषावश्यकभाष्य, १५५८

यह कहना समुचित जान पड़ता है कि आत्मा के अस्तित्व के विषय में दार्शनिकों में सामान्यतः कोई विवाद ही नहीं है, यदि विवाद है तो उसका सम्बन्ध आत्मा के विशेष स्वरूप से है (न कि उसके अस्तित्व से)। स्वरूप की दृष्टि से कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को, और कोई विज्ञान-संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व केअस्तित्व को स्वीकार करते हैं।[१] जैनदर्शन, न्याय-वैशेषिक दर्शन, सांख्य-योग दर्शन और वेदान्त आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

आत्मा एक मौलिक तत्त्व :

आत्मा एक मौलिक तत्त्व है अथवा अन्य किसी तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। सभी दर्शन यह मानते हैं कि संसार आत्म और अनात्म का संयोग है, लेकिन इनमें मूल तत्त्व क्या है ? यह विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में चार प्रमुख धारणाएँ हैं— १. मूल तत्त्व जड़ है, जैसे चार्वाक, २. मूल तत्त्व चेतन है और उसी की अपेक्षा से जड़ की सत्ता मानी जा सकती है। बौद्ध विज्ञानवाद, शांकर वेदान्त तथा बर्कले इस मत का प्रतिपादन करते हैं। ३. कुछ विचारक ऐसे भी हैं जिन्होंने परम तत्त्व को एक मानते हुए भी उसे जड़-चेतन उभयरूप स्वीकार किया और दोनों को ही उसका पर्याय माना। गीता, रामानुज और स्पिनोजा इस मत का प्रतिपादन करते हैं। ४. कुछ विचारक जड़ और चेतन दोनों को ही परम तत्त्व मानते हैं और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। सांख्य, जैन और देकार्त इस धारणा में विश्वास करते हैं।

जैन विचारक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कभी भी जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती। सूत्रकृतांग की टीका में इस मान्यता का निराकरण किया गया है। शीलांकाचार्य कहते हैं कि "भूत समुदाय स्वतन्त्रधर्मी है, उसका गुण चैतन्य नहीं है, क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों केअन्य पृथक्-पृथक् गुण हैं, अन्य गुणों वाले पदार्थों से या उनकेसमूह से भी किसी अपूर्व (नवीन) गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे रुक्ष बालुका कणों के समुदाय में स्निग्ध तेल की उत्पत्ति नहीं होती। अतः चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है, भूतों का नहीं। जड़ भूतों से चेतन आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती।"[२] शरीर भी ज्ञानादि चैतन्य गुणों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर भौतिक तत्त्वों का कार्य है और भौतिक तत्त्व चेतनाशून्य हैं। जब भूतों में ही चैतन्य-गुण नहीं है तो उनके कार्य में चैतन्य-गुण कहाँ से आयेगा ? प्रत्येक कार्य, कारण में अव्यक्त रूप से रहता है। जब वह कारण कार्यरूप में परिणत होता है, तब वह शक्ति रूप रहा हुआ कार्य व्यक्त रूप में सामने आ जाता है। जब भौतिक तत्त्वों में चेतना नहीं है, तब यह कैसे सम्भव है कि शरीर चैतन्य गुण वाला हो जाये ?

---

१. न्यायवार्तिक, पृ. ३६६ (आत्म-मीमांसा पृ. २ पर उद्धृत) २. सूत्रकृताङ्ग टीका, १/१/८

यदि चेतना प्रत्येक भौतिक तत्त्व में नहीं है तो उन तत्त्वों केसंयोग से भी वह उत्पन्न नहीं हो सकती। रेणु के प्रत्येक कण में न रहने वाला तेल, रेणुकणों के संयोग से उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः यह कहना युक्ति-संगत नहीं कि चैतन्य चार महाभूतों के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है।[१] गीता भी कहती है कि असत् का प्रादुर्भव नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता है।[२] यदि चैतन्य भूतों में नहीं है तो वह उनके संयोग से निर्मित शरीर में भी नहीं हो सकता। शरीर में चैतन्य की उपलब्धि होती है; अतः उसका कारण शरीर नहीं, आत्मा है। आत्मा की जड़ से भिन्नता सिद्ध करने केलिए शीलांकाचार्य एक दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "पाँचों इन्द्रियों के विषय अलग-अलग हैं, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ही ज्ञान करती है। जब पाँचों इन्द्रियों के विषय अलग-अलग हैं, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ही ज्ञान करती है, तब पाँचों इन्द्रियों के विषयों का एकत्रीभूत रूप में ज्ञान करनेवाला अन्य कोई अवश्य है और वह आत्मा है।"[३]

इसी सम्बन्ध में शंकर की भी एक युक्ति है, जिसके सम्बन्ध में प्रो. ए. सी. मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'नेचर ऑफ सेल्फ' में पर्याप्त प्रकाश डाला है। शंकर पूछते हैं कि भौतिकवादियों केअनुसार भूतों से उत्पन्न होनेवाली वह चेतना उन भौतिक तत्त्वों की प्रत्यक्षकर्ता होगी या उनका ही एक गुण होगी। प्रथम स्थिति में यदि चेतना भौतिक तत्त्वों के गुणों की प्रत्यक्षकर्ता होगी, तो वह उनसे प्रत्युत्पन्न नहीं होगी। दूसरे यह कहना भी हास्यास्पद होगा कि भौतिक गुण अपने ही गुणों को ज्ञान की विषय-वस्तु बनाते हैं। यह मानना कि चेतना भौतिक पदार्थों का ही एक गुण है, उनसे ही प्रत्युत्पन्न है और उन भौतिक पदार्थों को ही अपने ज्ञान का विषय बनाती है, उतना ही हास्यास्पद है, जितना यह मानना कि आग अपने को ही जलाती है अथवा नट अपने ही कन्धों पर चढ़ सकता है। इस प्रकार शंकर का निष्कर्ष भी यही है कि चेतना (आत्मा) भौतिक तत्त्वों से व्यतिरिक्त और ज्ञानस्वरूप है।[४]

आक्षेप एवं निराकरण :

सामान्य रूप से जैन विचारणा में आत्मा या जीव को अपौद्गलिक, विशुद्ध चैतन्य एवं जड़ से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना जाता है। लेकिन अन्य दार्शनिकों का आक्षेप है कि जैनदर्शन के विचार में जीव का स्वरूप बहुत कुछ पौद्गलिक बन गया है। यह आक्षेप अजैन दार्शनिकों का ही नहीं, अनेक जैन चिन्तकों का भी है और उसके लिए आगमिक आधारों पर कुछ

---

१. जैनदर्शन, पृ. १५७

२. गीता, २/१६

३. सूत्रकृताङ्ग टीका १/१/८

४. दी नेचर ऑफ सेल्फ, पृ. १४१-१४३

तर्क भी प्रस्तुत किये गये हैं। पं. जुगलकिशोर मुख्तार इस विषय में रहे हुए पारस्परिक विरोध को प्रकट करते हैं —

१. जीव यदि पौद्गलिक नहीं है तो उसमें सौक्ष्म्य-स्थौल्य अथवा संकोच-विस्तार क्रिया और प्रदेश परिस्पंदन कैसे बन सकते हैं ? जैन विचारणा के अनुसार सौक्ष्म्य-स्थौल्य को पुद्गल की पर्याय माना है।

२. जीव केअपौद्गलिक होने पर आत्मा में पौद्गलिक पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना भी कैसे बन सकता है ? क्योंकि प्रतिबिम्ब का ग्राहक पुद्गल ही होता है। जैन विचारणा में ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थों केआत्मा में प्रतिबिम्बित होने से ही मानी गयी है।

३. अपौद्गलिक और अमूर्तिक जीवात्मा पौद्गलिक एवं मूर्तिक कर्मों के साथ बद्ध होकर विकारी कैसे बन सकता है ? (इस प्रकार के बन्ध का कोई दृष्टान्त भी उपलब्ध नहीं है) स्वर्ण और पाषाण के अनादिबन्ध का, जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह विषम दृष्टान्त है और एक प्रकार से स्वर्णस्थानीय जीव का पौद्गलिक होना ही सूचित करता है।

४. रागादिक को पौद्गलिक कहा गया है और रागादिक जीव के परिणाम हैं—बिना जीव केउनका अस्तित्व नहीं। (यदि जीव पौद्गलिक नहीं है तो रागादिक पौद्गलिक कैसे सिद्ध हो सकेंगे?) इसके सिवाय अपौद्गलिक जीवात्मा में कृष्ण, नीलादि लेश्याएँ कैसे बन सकती हैं ?

जैनदर्शन जड़ और चेतन के द्वैत को और उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। वह सभी प्रकार के अद्वैतवाद का विरोध करता है, चाहे वह शंकर का आध्यात्मिक अद्वैतवाद हो अथवा चार्वाक् एवं पाश्चात्य भौतिक वैज्ञानिकों का भौतिकवाद हो। लेकिन इस सैद्धान्तिक मान्यता से उपर्युक्त शंकाओं का समाधान नहीं होता। इसके लिए हमें जीव के स्वरूप को उस सन्दर्भ में देखना होगा, जिसमें उपर्युक्त शंकाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। प्रथमतः संकोच-विस्तार तथा उसकेआधार पर होनेवाले सौक्ष्म्य एवं स्थौल्य तथा बन्धन और रागादि भाव का होना, सभी बद्ध जीवात्माओं या हमारे वर्तमान सीमित व्यक्तित्व के कारण हैं। जहाँ तक सीमित व्यक्तित्व या बद्ध जीवात्मा का प्रश्न है, वह एकान्त रूप से न तो भौतिक है और न अभौतिक। जैन चिन्तक मुनि नथमलजी इन्हीं प्रश्नों का समाधान करते हुए लिखते हैं कि "मेरी मान्यता यह है कि हमारा वर्तमान व्यक्तित्व न सर्वथा पौद्गलिक है और न सर्वथा अपौद्गलिक। यदि उसे पौद्गलिक मानें तो उसमें चैतन्य नहीं हो सकता और उसे सर्वथा अपौद्गलिक मानें तो उसमें संकोच-विस्तार, प्रकाशमय अनुभव, ऊर्ध्व—गौरवधर्मिता, रागादि जन्य कषाय एवं लेश्याएँ नहीं हो सकते। मैं जहाँ तक समझ सका हूँ, कोई शरीरधारी जीव अपौद्गलिक नहीं है। जैन आचार्यों ने उसमे संकोच-विस्तार तथा बन्धन आदि माने हैं, अपौद्गलिकता उसकी अन्तिम परिणति है, जो शरीर-मुक्ति से पहले कभी प्राप्त नहीं होती।"[१]

---

१. तट दो प्रवाह एक, पृ. ५४

मुनि जी के इस कथन को अधिक स्पष्ट रूप में यों कहा जा सकता है कि जीव केअपौद्गलिक स्वरूप की उपलब्धि मोक्ष है। जैनदर्शन का लक्ष्य इसी अपौद्गलिक स्वरूप की उपलब्धि है। जीव की अपौद्गलिकता आदर्श है, एक जागतिक तथ्य नहीं है।

आत्मा और शरीर में सम्बन्ध :

भगवान महावीर केसम्मुख यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि "भगवान्! जीव वही है, जो शरीर है या जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"हे गौतम! जीव शरीर भी है और शरीर से भिन्न भी है।[१] इस प्रकार महावीर ने आत्मा और देह के मध्य भिन्नत्व और एकत्व दोनों को स्वीकार किया। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी आत्मा और शरीर के एकत्व और भिन्नत्व को लेकर यही विचार प्रकट किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा और देह एक ही हैं लेकिन निश्चिय दृष्टि से आत्मा और देह कदापि एक नहीं हो सकते।[२] वस्तुतः आत्मा और शरीर में एकत्व माने बिना स्तुति, वंदन, सेवा आदि अनेक नैतिक आचरण की क्रियाएँ सम्भव नहीं। दूसरी ओर आत्मा और देह में भिन्नता माने बिना आसक्तिनाश और भेदविज्ञान की संभावना नहीं हो सकती। नैतिक और धार्मिक साधना की दृष्टि से आत्मा का शरीर से एकत्व और अनेकत्व दोनों अपेक्षित हैं। भगवान महावीर ने एकान्तिक वादों को छोड़कर अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किया और दोनों वादों का समन्वय किया। उन्होंने कहा कि आत्मा और शरीर कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं।

आत्मा परिणामी है :

जैनदर्शन आत्मा को परिणामी मानता है, जब कि सांख्य एवं शंकर वेदान्त आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानते हैं। बुद्धके समकालीन विचारक पूर्णकाश्यप भी आत्मा को अपरिणामी मानते थे। आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानने का तात्पर्य यह है कि आत्मा में कोई विकार, परिवर्तन, स्थित्यन्तर नहीं होता।

जैन आचार ग्रन्थों में यह वचन बहुतायत से उपलब्ध होते हैं कि आत्मा कर्ता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का कर्ता और भोक्ता है।[३] यह भी कहा गया है कि सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है।[४]

यही नहीं, सूत्रकृतांग में आत्मा को अकर्ता माननेवाले लोगों की आलोचना करते हुए स्पष्ट रूप में कहा गया है—"कुछ दूसरे (लोग) तो धृष्टतापूर्वक कहते हैं कि करना, कराना आदि क्रिया आत्मा नहीं करता, वह तो अकर्ता है। इन वादियों को सत्य ज्ञान का पता नहीं और न उन्हें धर्म का ही भान है।[५]

---

१. भगवती सूत्र १३/१/४९५
२. समयसार, २७
३. उत्तराध्ययन सूत्र, २०/३७
४. वही, २०/४८
५. सूत्रकृतांग सूत्र, १/१/१३-२१

उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर को नाव और आत्मा को नाविक कहकर जीव पर भौतिक कर्मों के कर्तृत्व का उत्तरदायित्व डाला गया है।[१]

आत्मा भोक्ता है :

यदि आत्मा को कर्ता मानना आवश्यक है तो उसे भोक्ता भी मानना पड़ेगा। क्योंकि जो कर्मों का कर्ता है, उसे ही उनके फलों का भोग भी करना चाहिए। जैसे आत्मा का कर्तृत्व कर्म पुद्गलों के निमित्त से सम्भव है, वैसे ही आत्मा का भोक्तृत्व भी कर्म पुद्गलों के निमित्त से ही सम्भव है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही शरीरयुक्त बद्धात्मा में पाये जाते हैं, मुक्तात्मा में नहीं। भोक्तृत्व वेदनीय कर्म के कारण ही सम्भव है। जैन-दर्शन आत्मा का भोक्तृत्वगुण भी सापेक्ष दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा में स्वीकार करता है।

१. व्यावहारिक दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा भोक्ता है।
२. अशुद्धनिश्चयनय या पर्याय दृष्टि से आत्मा अपनी मानसिक अनुभूतियों या मनोभावों का वेदक है।
३. परमार्थ दृष्टि से आत्मा भोक्ता और वेदक नहीं, मात्र साक्षीस्वरूप है।[२]

आत्मा का भोक्तृत्व कर्म और उनके प्रतिफल के संयोग के लिए आवश्यक है। जो कर्ता है, वह अनिवार्य रूप से उनके फलों को भोक्ता भी है अन्यथा कर्म और उसके फलभोग में अनिवार्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में नैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। अतः यह मानना होगा कि आत्मा भोक्ता है, लेकिन आत्मा का भोक्ता होना बद्धात्मा या सशरीरी के लिए ही समुचित है। मुक्तात्मा भोक्ता नहीं है, वह तो मात्र साक्षीस्वरूप या द्रष्टा होता है।

आत्मा स्वदेह परिमाण है :

यद्यपि जैन विचारणा में आत्मा को रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श आदि से विवर्जित कहा गया है, तथापि आत्मा को शरीराकार स्वीकार किया गया है। आत्मा के आकार के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो दृष्टियाँ हैं— एक के अनुसार आत्मा विभु (सर्वव्यापी) है, दूसरी के अनुसार अणु है। सांख्य, न्याय एवं अद्वैत वेदान्त आत्मा को विभु मानते हैं और रामानुज अणु मानते हैं। जैनदर्शन इस सम्बन्ध में मध्यस्थ दृष्टि अपनाता है। उसके अनुसार आत्मा अणु भी है और विभु भी है। वह सूक्ष्म है तो इतना है कि एक आकाश प्रदेश के अनन्तवें भाग में समा सकता है और विभु है तो इतना है कि समग्र लोक को भी व्याप्त कर सकता है।[३] जैन-दर्शन आत्मा में संकोच विस्तार को स्वीकार

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, २३/७३, तुलना कीजिए-कठोपनिषद, १/३/३

२. समयसार, ८१-९२

३. क्रमशः निगोद एवं केवली समुद्घात की अवस्था में।

करता है और इस आधार पर आत्मा को स्वदेह-परिणाम मानता है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे कमरें में रहने पर छोटे कमरे को और बड़े कमरे में रहने पर बड़े कमरे को प्रकाशित करता है, वैसे ही आत्मा भी जिस देह में रहता है उसे चैतन्याभिभूत कर देता है।

आत्मा के विभुत्व की समीक्षा :

१. यदि आत्मा विभु (सर्वव्यापक) है तो वह दूसरे शरीरों में भी होगा, फिर उन शरीरों के कर्मों के लिए उत्तरदायी होगा। यदि यह माना जाये कि आत्मा दूसरे शरीरों में नहीं है, तो फिर सर्वव्यापक नहीं होगा।

२. यदि आत्मा विभु है, तो दूसरे शरीरों में होनेवाले सुख-दुःख के भोग से कैसे बच सकेगा ?

३. विभु आत्मा के सिद्धान्त में कौन आत्मा किस शरीर का नियामक है, यह बताना कठिन है। वस्तुतः नैतिक और धार्मिक जीवन के लिए प्रत्येक शरीर में एक आत्मा का सिद्धान्त ही संगत हो सकता है, ताकि उस शरीर के कर्मों केआधार पर उसे उत्तरदायी ठहराया जा सके।

४. आत्मा की सर्व व्यापकता का सिद्धान्त अनेकात्मवाद के साथ कथमपि संगत नहीं हो सकता। साथ ही अनेकात्मवाद केअभाव में नैतिक जीवन की संगत व्याख्या सम्भव नहीं है।

पुनः आत्मा को अणु भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अणु आत्मा शरीर के एक भाग में होगा, अतः सम्पूर्ण चेतनायुक्त नहीं होगा। अतः आत्मा को शरीर-व्यापी मानना ही उचित है।

आत्माएँ अनेक हैं :

आत्मा एक है या अनेक—यह दार्शनिक दृष्टि से विवाद का विषय रहा है। जैनदर्शन के अनुसार आत्माएँ अनेक हैं और प्रत्येक शरीर की आत्मा भिन्न है। यदि आत्मा को एक माना जाता है तो नैतिक दृष्टि से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

एकात्मवाद की समीक्षा :

१. आत्मा को एक मानने पर सभी जीवों की मुक्ति और बन्धन एक साथ होंगे। इतना ही नहीं, सभी शरीरधारियों के नैतिक विकास एवं पतन की विभिन्न अवस्थाएँ भी युगपद् होंगी। लेकिन ऐसा तो दिखता नहीं। सब प्राणियों का आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास का स्तर अलग-अलग है। यह भी माना जाता है कि अनेक व्यक्ति मुक्त हो चुके हैं और अनेक अभी बन्धन में हैं। अतः आत्माएँ एक नहीं अनेक हैं।

२. आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिक—नैतिक प्रयासों का मूल्य समाप्त हो जायेगा। यदि आत्मा एक ही है तो व्यक्तिगत प्रयासों एवं क्रियाओं से न तो उसकी मुक्ति सम्भव होगी और न वह बन्धन में ही जायेगा।

३. आत्मा के एक मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व तथा तज्जनित पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था का भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। सारांश में आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है और वैयक्तिकता के अभाव में नैतिक विकास, नैतिक उत्तरदायित्व और पुरुषार्थ आदि नैतिक प्रत्ययों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसलिये विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि सुख-दुःख, जन्म-मरण, बन्धन-मुक्ति आदि के संतोषप्रद समाधान के लिए अनेक आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता मानना आवश्यक है।[१] सांख्यकारिका में भी जन्म-मरण, इन्द्रियों की विभिन्नताओं, प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग प्रवृत्ति और स्वभाव तथा नैतिक विकास की विभिन्नता केआधारों पर आत्मा की अनेकता सिद्ध की गयी है।[२]

अनेकात्मवाद की नैतिक कठिनाई :

अनेकात्मवाद नैतिक जीवन के लिए वैयक्तिकता का प्रत्यय तो प्रस्तुत कर देता है, तथापि अनेक आत्माएँ मानने पर भी कुछ नैतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन नैतिक कठिनाइयों में प्रमुखतम यह है कि नैतिकता का समग्र प्रयास जिस 'अहं' के विसर्जन के लिए है उसी 'अहं' (वैयक्तिकता) को ही यह आधारभूत बना देता है। अनेकात्मवाद में 'अहं' कभी भी पूर्णतया विसर्जित नहीं हो सकता। इसी 'अहं' से राग और आसक्ति का जन्म होता है। पुनः 'अहं' भी तृष्णा का ही एक रूप है, 'मैं' का भाव भी बन्धन ही है।

जैनदर्शन का निष्कर्ष :

जैनदर्शन में इस समस्या का भी अनेकान्त दृष्टि से सुन्दर हल प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार आत्मा एक भी है और अनेक भी। समवायांग और स्थानांगसूत्र में उसे एक भी कहा गया है।[३] अन्यत्र उसे अनेक भी कहा गया है।[४] टीकाकारों ने इसका समाधान इस प्रकार किया कि आत्मा द्रव्यापेक्षा से एक है और पर्यायापेक्षा से अनेक, जैसे सिन्धु का जल न एक है और न अनेक। वह जल-राशि की दृष्टि से एक है और जल-बिन्दुओं की दृष्टि से अनेक भी। समस्त जल-बिन्दु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए उस जल-राशि से अभिन्न ही हैं। उसी प्रकार अनन्त चेतन आत्माएँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी अपने चेतना स्वभाव के कारण एक चेतन आत्मद्रव्य ही हैं।[५]

भगवान् महावीर ने इस प्रश्न का समाधान बड़े सुन्दर ढंग से टीकाकारों के पहले ही कर

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, १५८२

२. सांख्यकारिका, १८

३. समवायांग, १/१; स्थानांगसूत्र, १/१

४. भगवतीसूत्र, २/१;

५. समवायांग टीका, १/१

दिया था। वे सोमिल नामक ब्राह्मण को अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"हे सोमिल ! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ, ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों की प्रधानता से मैं दो हूँ। कभी न्यूनाधिक नहीं होनेवाले आत्म-प्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। तीनों कालों में बदलते रहने वाले उपयोग स्वभाव की दृष्टि से मैं अनेक हूँ।"[१]

इस प्रकार भगवान् महावीर जहाँ एक ओर द्रव्यदृष्टि (Substantianl view) से आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं, वहीं दूसरी ओर पर्यायार्थिक दृष्टि से एक ही जीवात्मा में चेतन पर्यायों के प्रवाह के रूप से अनेक व्यक्तित्वों की संकल्पना को भी स्वीकार कर शंकर केअद्वैतवाद और बौद्ध के क्षणिक आत्मवाद की खाई को पाटने की कोशिश करते हैं।

जैन विचारक आत्माओं में गुणात्मक अन्तर नहीं मानते हैं। लेकिन विचार की दिशा में केवल सामान्यदृष्टि से काम नहीं चलता, विशेषदृष्टि का भी अपना स्थान है। सामान्य और विशेष के रूप में विचार की दो दृष्टियाँ हैं और दोनों का अपना महत्त्व है। महासागर की जल-राशि सामान्यदृष्टि से एक है, लेकिन विशेषदृष्टि से वही जल-राशि अनेक जलबिन्दुओं का समूह प्रतीत होती है। यही बात आत्मा के विषय में भी है। चेतन-पर्यायों की विशेषदृष्टि से आत्माएँ अनेक हैं और चेतना द्रव्य की दृष्टि से आत्मा एक भी है। अपनी परिवर्तनशील चैतसिक अवस्थाओं के आधार पर हम स्वयं भी एक स्थिर इकाई न होकर प्रवाहशील इकाई हैं। जैनदर्शन यह मानता है कि आत्मा का चरित्र या व्यक्तित्व परिवर्तनशील है, वह देशकालगत परिस्थितयों में बदलता रहता है, फिर भी वही रहता है। हमारे व्यक्तित्व बनते और बिगड़ते रहते हैं फिर भी वे हमारे ही अंग हैं; इस आधार पर हम उनके लिए उत्तरदायी बने रहते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन अभेद में भेद, एकत्व में अनेकत्व की धारणा को स्थान देकर धर्म और नैतिकता केलिए ठोस आधार प्रस्तुत करता है।

जैनदर्शन जिन्हें जीव की पर्याय अवस्थाओं की धारा कहता है, बौद्धदर्शन उसे चित्त-प्रवाह कहता है। जिस प्रकार जैनदर्शन में प्रत्येक जीव अलग है, उसी प्रकार बौद्धदर्शन में प्रत्येक चित्त-प्रवाह अलग है। जैसे बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद में आलयविज्ञान है, वैसे जैनदर्शन में आत्म-द्रव्य है; यद्यपि हमें इन सब में रहे हुए तात्त्विक अन्तर को विस्मृत नहीं करना चाहिए।

आत्मा के भेद :

जैनदर्शन अनेक आत्माओं की सत्ता को स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्येक आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं केआधार पर उसकेभी भेद करता है। जैन आगमों में विभिन्न पक्षों की अपेक्षा से आत्मा के आठ भेद किए गये हैं[२]—

---

१. भगवतीसूत्र, १/८/१०

२. भगवतीसूत्र १२/१०/४६७

१. द्रव्यात्मा — आत्मा का तात्त्विक स्वरूप।

२. कषायात्मा — क्रोध, मान, माया आदि कषायों या मनोवेगों से युक्त चेतना की अवस्था।

३. योगात्मा — शरीर से युक्त होने पर चेतना की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं की अवस्था।

४. उपयोगात्मा — आत्मा की ज्ञानात्मक और अनुभूत्यात्मक शक्तियाँ। वह आत्मा का चेतनात्मक व्यापार है।

५. ज्ञानात्मा — चेतना की विवेक और तर्क की शक्ति।

६. दर्शनात्मा — चेतना की अनुभवात्मक अवस्था।

७. चरित्रात्मा — चेतना की क्रियात्मक शक्ति।

८. वीर्यात्मा — चेतना की पुरुषार्थ-शक्ति।

उपर्युक्त आठ प्रकारों में द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा और दर्शनात्मा ये चार तात्त्विक आत्मा के स्वरूप के ही द्योतक हैं, शेष चार कषायात्मा, योगात्मा, चरित्रात्मा और वीर्यात्मा ये चारों आत्मा के अनुभवाधारित स्वरूप के निर्देशक हैं। तात्त्विक आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य होती है यद्यपि उसमें ज्ञानादि की पर्यायें रहती हैं। अनुभवाधारित आत्मा चेतना की शरीर से युक्त अवस्था है। यह परिवर्तनशील एवं विकारयुक्त होती है। आत्मा के बन्धन का प्रश्न भी इसी अनुभवाधारित आत्मा से सम्बन्धित है। विभिन्न दर्शनों में आत्म-सिद्धान्त के सन्दर्भ में, जो पारस्परिक विरोध दिखाई देता है, वह आत्मा के इन दो पक्षों में किसी पक्ष-विशेष पर बल देने के कारण होता है। भारतीय परम्परा में बौद्धदर्शन ने आत्मा के अनुभवाधारित परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल दिया, जब कि सांख्य और शंकर वेदान्त ने आत्मा के तात्त्विक स्वरूप पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की जैनदर्शन दोनों ही पक्षों को स्वीकार कर उनके बीच समन्वय का कार्य करता है।

विवेक क्षमता की दृष्टि से आत्माएँ दो प्रकार की मानी गई हैं— १. समनस्क, २. अमनस्क। समनस्क आत्माएँ वे हैं, जिन्हें विवेक-क्षमता से युक्त मन उपलब्ध है और अमनस्क आत्माएँ वे हैं, जिन्हें ऐसा विवेक-क्षमता से युक्त मन उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक नैतिक जीवन के क्षेत्र का प्रश्न है, समनस्क आत्माएँ ही नैतिक साध्य की उपलब्धि कर सकती हैं, क्योंकि विवेक-क्षमता से युक्त मन की उपलब्धि होने पर ही आत्मा में शुभाशुभ का विवेक करने की क्षमता होती है, साथ ही इसी विवेक-बुद्धि के आधार पर वे वासनाओं का संयमन भी कर सकती हैं। जिन आत्माओं में ऐसी विवेक-क्षमता का अभाव है, उनमें संयम की क्षमता का भी अभाव होता है, इसलिए वे नैतिक प्रगति भी नहीं कर सकतीं। नैतिक जीवन के लिए आत्मा में विवेक और संयम दोनों का होना

आवश्यक है और वह केवल पंचेन्द्रिय जीवों में भी उन्हीं में सम्भव है, जो समनस्क हैं। यहाँ जैविक आधार पर भी आत्मा के वर्गीकरण पर विचार अपेक्षित है, क्योंकि जैनधर्म का अहिंसा-सिद्धान्त बहुत कुछ उसी पर निर्भर है।

जैविक आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण :

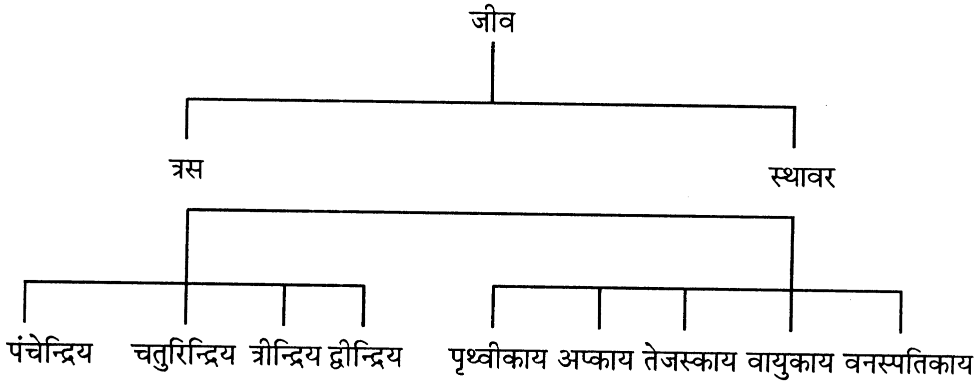

जैविक दृष्टि से जैन-परम्परा में दस प्राणशक्तियाँ मानी गयी हैं। स्थावर एकेन्द्रिय जीवों में चार शक्तियाँ होती हैं— १. स्पर्श-अनुभव शक्ति, २. शारीरिक शक्ति, ३. जीवन (आयु) शक्ति और ४. श्वसन शक्ति। द्वीन्द्रिय जीवों में इन चार शक्तियों के अतिरिक्त स्वाद और वाणी की शक्ति भी होती है। त्रीन्द्रिय जीवों मे सूँघने की शक्ति भी होती है। चतुरिन्द्रिय जीवों में इन सात शक्तियों केअतिरिक्त देखने की सामर्थ्य भी होती है। पंचेन्द्रिय अमनस्क जीवों मे इन आठ शक्तियों के साथ-साथ श्रवणशक्ति भी होती है और समनस्क पंचेन्द्रिय जीवों में इनके अतिरिक्त मनःशक्ति भी होती है। इस प्रकार जैनदर्शन में कुल दस जैविक-शक्तियाँ या प्राणशक्तियाँ मानी गयी हैं। हिंसा-अहिंसा के अल्पत्व और बहुतत्व आदि का विचार इन्हीं जैविक-शक्तियों की दृष्टि से किया जाता है। जितनी अधिक प्राणशक्तियों से युक्त जीव (प्राणी) की हिंसा की जाती है, वह उतनी ही भयंकर समझी जाती है।

गतियों के आधार पर जीवों का वर्गीकरण :

जैन-परम्परा में गतियों केआधार पर जीव चार प्रकार के माने गए हैं— १. देव, २. मनुष्य, ३. पशु (तिर्यंच) और ४. नारक। जहाँ तक शक्ति और क्षमता का प्रश्न है, देव का स्थान मनुष्य से ऊचाँ माना गया है। लेकिन जहाँ तक नैतिक साधना की बात है जैन-परम्परा मनुष्य-जन्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानती है। उसके अनुसार मानव-जीवन ही ऐसा जीवन है जिससे मुक्ति या नैतिक पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। जैन-परम्परा केअनुसार केवल मनुष्य ही सिद्ध हो सकता है, अन्य कोई नहीं। बौद्ध-परम्परा में भी उपर्युक्त चारों जातियाँ स्वीकृत रही हैं, लेकिन उनमें देव और मनुष्य दोनों में ही मुक्त होने की क्षमता को मान लिया गया है। बौद्ध-परम्परा केअनुसार एक देव भी मानव-जन्म ग्रहण किये बिना ही देव-गति

से ही निर्वाण लाभ कर सकता है, जब कि जैन-परम्परा के अनुसार केवल मनुष्य ही निर्वाण का अधिकारी है। इस प्रकार जैन-परम्परा मानव-जन्म को चरम मूल्यवान बना देती है।

आत्मा की अमरता :

आत्मा की अमरता का प्रश्न नैतिकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्य विचारक काण्ट आत्मा की अमरता को नैतिक-जीवन की संगत व्याख्या के लिए आवश्यक मानते हैं। भारतीय आचारदर्शनों के प्राचीन युग में आत्मा की अमरता का सिद्धान्त विवाद का विषय रहा है। उस युग में यह प्रश्न आत्मा की नित्यता एवं अनित्यता के रूप में अथवा शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के रूप में बहुचर्चित रहा है। वस्तुतः आत्म-अस्तित्व को दार्शनिकों में इतना विवाद नहीं है। विवाद का विषय है आत्मा की नित्यता या अनित्यता यह विषय तत्त्वज्ञान की अपेक्षा भी नैतिक दर्शन से अधिक सम्बन्धित है। जैन विचारकों ने नैतिक व्यवस्था को प्रमुख मानकर, उसकेआधार पर ही नित्यता और अनित्यता की समस्या का हल खोजने की कोशिश की। अतः यह देखना भी उपयोगी होगा कि आत्मा को नित्य अथवा अनित्य मानने पर नैतिक दृष्टि से कौन-सी कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं।

आत्मा की नित्यानित्यात्मकता :

जैन विचारकों ने संसार और मोक्ष की उपपत्ति के लिए न तो नित्य-आत्मवाद को उपयुक्त समझा और न अनित्य-आत्मवाद को। एकान्त नित्यवाद और एकान्त अनित्यवाद दोनों ही सदोष हैं। *आचार्य हेमचन्द्र दोनों को नैतिक दर्शन की दृष्टि से अनुपयुक्त बताते हुए लिखते हैं,* यदि आत्मा को एकान्त नित्य मानें तो इसका अर्थ होगा कि आत्मा में अवस्थानान्तर अथवा स्थित्यन्तर नहीं होता। यदि इसे मान लिया जाये तो सुख-दुःख, शुभ-अशुभ आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ आत्मा में घटित नहीं होंगी। फिर स्थित्यन्तर या भिन्न-भिन्न परिणामों, शुभाशुभ भवों की शक्यता न होने से पुण्य-पाप की विभिन्न वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ भी सम्भव नहीं होंगी, न बन्धन और मोक्ष की उत्पत्ति ही सम्भव होगी। क्योंकि वहाँ एक क्षण के पर्याय ने जो कार्य किया था, उसका फल दूसरे क्षण केपर्याय को मिलेगा, क्योंकि वहाँ उन सतत परिवर्तनशील पर्यायों के मध्य कोई अनुस्यूत एक स्थायी तत्त्व (द्रव्य) नहीं है, अतः यह कहा जा सकेगा कि जिसने किया था उसे फल नहीं मिला और जिसने नहीं किया था उसे फल मिला, अर्थात् नैतिक कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से अकृतागम और कृतप्रणाश का दोष होगा।[१] अतः आत्मा को नित्य मानकर भी सतत् परिवर्तनशील (अनित्य) माना जाये तो उसमें शुभाशुभ आदि विभिन्न भावों की स्थिति मानने के साथ ही उसके फलों का भवान्तर *में भोग भी सम्भव हो सकेगा।* इस प्रकार जैनदर्शन सापेक्ष रूप से *आत्मा को नित्य और अनित्य* दोनों ही स्वीकार करता है।

---

१. वीतरागस्तोत्र, ८/२-३

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा अमूर्त्त होने के कारण नित्य है।[१] भगवतीसूत्र में भी जीव को अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय ध्रुव और नित्य कहा गया है।[२] लेकिन इन सब स्थानों पर नित्यता का अर्थ परिणामी नित्यता ही समझना चाहिए। भगवतीसूत्र एवं विशेषावश्यकभाष्य में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मा को शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा है–

'भगवान्! जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?'

'गौतम! जीव शाश्वत (नित्य) भी है और अशाश्वत (अनित्य) भी!'

'भगवन्! यह कैसे कहा गया कि जीव नित्य भी है और अनित्य भी ? !'

'गौतम! द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, भाव (पर्याय) की अपेक्षा से अनित्य!'[३]

आत्मा-द्रव्य (सत्ता) की अपेक्षा से नित्य है अर्थात् आत्मा न तो कभी अनात्म (जड़) से उत्पन्न होती है न किसी भी अवस्था में अपने चेतना लक्षण को छोड़कर जड़ बनती है। इसी दृष्टि से उसे नित्य कहा जाता है लेकिन आत्मा की मानसिक अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अतः इस अपेक्षा से उसे अनित्य कहा गया है। आधुनिक दर्शन की भाषा में जैनदर्शन के अनुसार तात्त्विक आत्मा नित्य है और अनुभवाधारित आत्मा अनित्य है। जिस प्रकार स्वर्णाभूषण स्वर्ण की दृष्टि से नित्य और आभूषण की दृष्टि से अनित्य हैं, उसी प्रकार आत्मा तत्त्व की दृष्टि से नित्य एवं विचारों और भावों की दृष्टि से अनित्य है।

जमाली के साथ हुए प्रश्नोत्तर में भगवान् महावीर ने अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है कि वे किस अपेक्षा से जीव को नित्य मानते हैं और किस अपेक्षा से अनित्य। भगवान् महावीर कहते हैं– "हे जमाली, जीव शाश्वत है तीनों कालों में ऐसा कोई समय नहीं है जब यह जीव (आत्मा) नहीं था, नहीं है, अथवा नहीं होगा। इसी अपेक्षा से यह जीवात्मा, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अक्षय और अव्यय है। हे जमाली, जीव अशाश्वत है, क्योंकि नारक मरकर तिर्यंच होता है, तिर्यंच मरकर मनुष्य होता है, मनुष्य मर कर देव होता है। इस प्रकार इन नाना रूपों या पर्यायों को प्राप्त करने के कारण उसे अनित्य कहा जाता है।"[४] नैतिक विचारणा की दृष्टि से आत्मा को नित्यानित्य (परिणामी-नित्य) मानना ही समुचित है। नैतिकता की धारणा में जो विरोधाभास है, उसका निराकरण केवल परिणामी नित्य आत्मावाद में ही सम्भव है। नैतिकता का विरोधाभास यह है कि

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, १४/१९

२. भगवतीसूत्र, ९/६/३/८७

३. वही, ७/२/२७३

४. वही, ९/६/३८७; १/४/४२

जहाँ नैतिकता के आदर्श के रूप में जिस मोक्ष-तत्त्व की विवक्षा है उसे नित्य, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, सदैव समरूप में स्थित, निर्विकार होना चाहिए अन्यथा पुनः बन्धन एवं पतन की सम्भावनाएँ उठ खड़ी होंगी, वहीं दूसरी ओर नैतिकता की व्याख्या के लिए जिस आत्म-तत्त्व की विवक्षा है उसे कर्ता, भोक्ता, वेदक एवं परिवर्तनशील होना चाहिए अन्यथा कर्म और उनके प्रतिफल और साधना की विभिन्न अवस्थाओं की तरतमता की उपपत्ति नहीं होगी। जैन विचारकों ने इस विरोधाभास की समस्या के निराकरण का प्रयास किया है। प्रथमतः उन्होंने एकान्त नित्यात्मवाद और अनित्यात्मवाद के दोषों को स्पष्ट कर उनका निराकरण किया, फिर यह बताया है कि विरोधाभास तो वहीं होता है जहाँ एकान्त का आग्रह होता है, जब विभिन्न दृष्टियों से नित्यता और अनित्यता का कथन किया जाता है, तो उसमें कोई विरोधाभास नहीं रहता है। जैनदर्शन आत्मा को पर्यायार्थिक दृष्टि (व्यवहारनय) की अपेक्षा से अनित्य तथा द्रव्यार्थिक दृष्टि (निश्चयनय) की अपेक्षा से नित्य मानकर अपनी आत्मा सम्बन्धी अवधारणा का प्रतिपादन करता है।

आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म :

आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म का प्रत्यय जुड़ा हुआ है। भारतीय दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर शेष सभी दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जब आत्मा को अमर मान लिया जाता है, तो पुनर्जन्म भी स्वीकार करना ही होगा। गीता कहती है– "जिस प्रकार मनुष्य वस्त्रों के जीर्ण हो जाने पर उनका परित्याग कर नये वस्त्र ग्रहण करता रहता है, वैसे ही आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर ग्रहण करती रहती है।" न केवल गीता में, वरन् बौद्धदर्शन में भी इसी आशय का प्रतिपादन किया गया है।[१] डॉ. रामानंद तिवारी पुनर्जन्म के पक्ष में लिखते हैं कि "एक-जन्म के सिद्धान्त के अनुसार चिरन्तन आत्मा और नश्वर शरीर का सम्बन्ध एक काल-विशेष में आरम्भ होकर एक काल-विशेष में ही अन्त हो जाता है, किन्तु चिरन्तन की कालिक सम्बन्ध अन्याय (तर्क-विरुद्ध) है और इस (एक-जन्म के) सिद्धान्त से उसका कोई समाधान नहीं है—पुनर्जन्म का सिद्धान्त जीवन की एक न्यायसंगत और नैतिक व्याख्या देना चाहता है। एक-जन्म सिद्धान्त के अनुसार जन्मकाल में भाग्योदयों के भेद को अकारण एवं संयोगजन्य मानना होगा।"[२]

डॉ. मोहनलाल मेहता कर्म सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनके शब्दों में—"कर्म सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म के प्रत्यय से संलग्न है, पूर्ण विकसित पुनर्जन्म सिद्धान्त के अभाव में कर्म सिद्धान्त अर्थशून्य है।"[३] आचारदर्शन के क्षेत्र में यद्यपि

---

१. गीता, २/२२; तुलना करें-थेर गाथा, १/३८/६८८

२. शंकर का आचारदर्शन. पृ. ६८

३. जैन साइकॉलॉजी, पृ. २६८

पुनर्जन्म सिद्धान्त और कर्म सिद्धान्त एक-दूसरे के अति निकट हैं, फिर भी धार्मिक क्षेत्र में विकसित कुछ आचारदर्शनों ने कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं किया है। कट्टर पाश्चात्य निरीश्वरवादी दार्शनिक नित्शे ने कर्म-शक्ति और पुनर्जन्म पर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं– "कर्म-शक्ति के जो हमेशा रूपान्तर हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं तथा काल अनन्त है। इसलिए कहना पड़ता है कि जो नामरूप एक बार हो चुके हैं, वही फिर आगे यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते ही हैं।"[१]

ईसाई और इस्लाम आचारदर्शन यह तो मानते हैं कि व्यक्ति अपने नैतिक शुभाशुभ कृत्यों का फल अनिवार्य रूप से प्राप्त करता है और यदि वह अपने कृत्यों के फलों को इस जीवन में पूर्णतया नहीं भोग पाता है तो मरण के बाद उनका फल भोगता है, लेकिन फिर भी वे पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार, व्यक्ति को सृष्टि के अन्त में अपने कृत्यों की शुभाशुभता के अनुसार हमेशा के लिए स्वर्ग या किसी निश्चित समय के लिए नरक में भेज दिया जाता है, वहाँ व्यक्ति अपने कृत्यों का फल भोगता रहता हैं। इस प्रकार वे कर्म सिद्धान्त को मानते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं।

जो विचारणाएँ कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी पुनर्जन्म को नहीं मानती हैं, वे इस तथ्य की व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं कि वर्तमान जीवन में, जो नैसर्गिक वैषम्य है, उसका कारण क्या है ? क्यों एक प्राणी संपन्न एवं प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है अथवा जन्मना ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक क्षमता से युक्त होता है और क्यों दूसरा दरिद्र एवं हीन कुल में जन्म लेता है और जन्मना हीनेन्द्रिय एवं बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है ? क्यों एक प्राणी को मनुष्य-शरीर मिलता है और दूसरे को पशु-शरीर मिलता है ? यदि इसका कारण ईश्वरेच्छा है तो ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है। दूसरे, व्यक्ति अपनी अक्षमताओं और उनके कारण उत्पन्न अनैतिक कृत्यों के लिये उत्तरदायी किस प्रकार होगा ? वैयक्तिक विभिन्नताएँ ईश्वरेच्छा का परिणाम नहीं, वरन् व्यक्ति के अपने कृत्यों का परिणाम हैं। वर्तमान जीवन में जो भी क्षमता एवं अवसरों की सुविधा उसे अनुपलब्ध है और जिनके फलस्वरूप उसे नैतिक विकास का अवसर प्राप्त नहीं होता है उनका कारण भी वह स्वयं ही है और उसका उत्तरदायित्व भी उसी पर है।

नैतिक विकास केवल एक जन्म की साधना का परिणाम नहीं है, वरन उसके पीछे जन्म-जन्मान्तर की साधना होती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्राणी को नैतिक विकास हेतु अनन्त अवसर प्रदान करता है। ब्रैडले नैतिक पूर्णता की उपलब्धि को अनन्त प्रक्रिया मानते हैं।[२] यदि नैतिकता

---

१. गीता रहस्य, पृ. २६८

२. एथिकल स्टडीज, पृ. ३१३

आत्मपूर्णता एवं आत्म-साक्षात्कार की दिशा में सतत प्रक्रिया है तो फिर बिना पुनर्जन्म के इस विकास की दिशा में आगे कैसे बढ़ा जा सकता है ? गीता में भी नैतिक पूर्णता की उपलब्धि के लिए अनेक जन्मों की साधना आवश्यक मानी गयी है।[१] डॉ. टाटिया भी लिखते हैं कि यदि "आध्यात्मिक पूर्णता (मुक्ति) एक तथ्य है तो उसके साक्षात्कार के लिए अनेक जन्म आवश्यक हैं।"[२]

साथ ही आत्मा के बन्धन के कारणों की व्याख्या के लिए पुनर्जन्म की धारणा को स्वीकार करना होगा, क्योंकि वर्तमान बन्धन की अवस्था का कारण भूतकालीन जीवन में ही खोजा जा सकता है।

जो दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते, वे व्यक्ति के साथ समुचित न्याय नहीं करते। अपराध के लिए दण्ड आवश्यक है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि विकास या सुधार का अवसर ही समाप्त कर दिया जाये। जैनदर्शन इस सिद्धान्त को स्वीकार करके व्यक्ति को नैतिक विकास के अवसर प्रदान करता है तथा अपने को एक प्रगतिशील दर्शन सिद्ध करता है। पुनर्जन्म की धारणा दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्त का समर्थन करती है, जब कि पुनर्जन्म को नहीं मानने वाली नैतिक विचारणाएँ दण्ड के बदला लेने के सिद्धान्त का समर्थन करती हैं, जो कि वर्तमान युग में एक परम्परागत किन्तु अनुचित धारणा है।

पुनर्जन्म के विरुद्ध यह भी तर्क दिया जाता है कि यदि वही आत्मा (चेतना) पुनर्जन्म ग्रहण करती है, तो फिर उसे पूर्वजन्मों की स्मृति क्यों नहीं रहती है। स्मृति के अभाव में पुनर्जन्म को किस आधार पर माना जाये ? लेकिन यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि हम अक्सर देखते हैं कि हमें अपने वर्तमान जीवन की अनेक घटनाओं की भी स्मृति नहीं रहती। यदि हम वर्तमान जीवन के विस्मरित भाग को अस्वीकार नहीं करते हैं तो फिर केवल स्मरण के अभाव में पूर्वजन्मों को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार हमारे वर्तमान जीवन की अनेक घटनाएँ अचेतन स्तर पर रहती हैं, वैसे ही पूर्वजन्मों की घटनाएँ भी अचेतन स्तर पर बनी रहती हैं और विशिष्ट अवसरों पर चेतना के स्तर पर भी व्यक्त हो जाती हैं। यह भी तर्क दिया जाता है कि हमें अपने जिन कृत्यों की स्मृति नहीं है, हम क्यों उनके प्रतिफल का भोग करें ? लेकिन यह तर्क भी समुचित नहीं है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि हमें अपने कर्मों की स्मृति है या नहीं? यदि हमने उन्हें किया है तो उनका फल भोगना ही होगा। यदि कोई व्यक्ति इतना अधिक

१. गीता, ६/४५
२. स्टडीज इन जैन फिलॉसॉफी, पृ. २२१

मद्यपान कर ले कि नशे में उसे अपने किए हुए मद्यपान की स्मृति भी न रहे, लेकिन इससे क्या वह उसके नशे से बच सकता है ? जो किया है, उसका भोग अनिवार्य है, चाहे उसकी स्मृति हो या न हो।[१]

जैन चिन्तकों ने इसलिए कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति के साथ-साथ आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि प्राणियों में क्षमता एवं अवसरों की सुविधा आदि का जो जन्मना नैसर्गिक वैषम्य है, उसका कारण प्राणी के अपने ही पूर्वजन्मों के कृत्य हैं। संक्षेप में वंशानुगत एवं नैसर्गिक वैषम्य पूर्वजन्मों के शुभाशुभ कृत्यों का फल है। यही नहीं, वरन् अनुकूल एवं प्रतिकूल परिवेश की उपलब्धि भी शुभाशुभ कृत्यों का फल है। स्थानांगसूत्र में भूत, वर्तमान और भावी जन्मों में शुभाशुभ कर्मों के फल-सम्बन्ध की दृष्टि से आठ विकल्प माने गये हैं— १. वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में ही फल देवें। २. वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म भावि जन्मों में फल देवें। ३. भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में ही फल देवें। ४. भूतकालीन जन्मों केअशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें। ५. वर्तमान जन्म के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें। ६. वर्तमान जन्म के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें। ७. भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें। ८. भूतकालीन जन्मों केशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें।[२]

इस प्रकार जैनदर्शन में वर्तमान जीवन का सम्बन्ध भूतकालीन एवं भावी जन्मों से माना गया है। जैनदर्शन केअनुसार चार प्रकार की योनियाँ हैं— १. देव (स्वर्गीय जीवन), २. मनुष्य, ३. तिर्यंच (वानस्पतिक एवं पशु जीवन) और ४. नारक (नारकीय जीवन)[२] प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन योनियों में जन्म लेता है। यदि वह शुभ कर्म करता है तो देव और मनुष्य के रूप में जन्म लेता है और अशुभ कर्म करता है तो पशु गति या नारकीय गति प्राप्त करता है। मनुष्य मर कर पशु भी हो सकता है और देव भी। प्राणी जीवन में क्या होगा यह उसके वर्तमान जीवन केआचरण पर निर्भर करता है। इस प्रकार जैनदर्शन कर्म सिद्धान्त के आधार पर आत्म-द्रव्य को परिणामी नित्य मानता है।

धर्म द्रव्य :

धर्म द्रव्य की इस चर्चा के प्रसंग में सर्वप्रथम हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ वह नहीं है जिसे सामान्यतया ग्रहण किया जाता है। यहाँ 'धर्म' शब्द न तो स्वभाव का वाचक है, न कर्तव्य का और न साधना या उपासना के विशेष प्रकार का, अपितु इसे

---

१. *जैन साइकॉलॉजी, पृ. १७५*

२. स्थानांगसूत्र, ८/२

जीव व पुद्गल की गति के सहायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जो जीव और पुद्गल की गति के माध्यम का कार्य करता है, उसे धर्म द्रव्य कहा जाता है। जिस प्रकार मछली की गति जल के माध्यम से ही सम्भव होती है अथवा जैसे विधुत-धारा उसके चालक द्रव्य तार आदि के माध्यम से ही प्रभावित होती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल विश्व में प्रसारित धर्म द्रव्य के माध्यम से ही गति करते हैं। इसका प्रसार क्षेत्र लोक तक सीमित है। अलोक में धर्म द्रव्य का अभाव है। इसीलिए उसमें जीव और पुद्गल की गति सम्भव नहीं होती और यही कारण है कि उसे अलोक कहा जाता है। अलोक का तात्पर्य है कि जिसमें जीव और पुद्गल का अभाव हो। धर्म द्रव्य प्रसारित स्वभाव वाला (अस्तिकाय) होकर भी अमूर्त्त (अरूपी) और अचेतन है। धर्म द्रव्य एक और अखण्ड द्रव्य है। जहाँ जीवात्माएँ अनेक मानी गई हैं वहाँ धर्म द्रव्य एक ही है। लोक तक सीमित होने के कारण इसे अनन्त न मानकर सीमित ही माना गया है। लोक चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न हो वह असीम न होकर ससीम है और ससीम लोक में व्याप्त होने के कारण धर्म द्रव्य को आकाश के समान अनन्त प्रदेशी न मानकर असंख्य प्रदेशी मानना ही उपयुक्त है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि धर्म द्रव्य की यह व्याख्या कुछ विचारकों की दृष्टि में परवर्ती कालीन है।

अधर्म द्रव्य :

अधर्म द्रव्य भी अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत आता है। इसका भी विस्तारक्षेत्र या प्रदेश-प्रचयत्व लोकव्यापी है। अलोक में इसका अस्तित्व नहीं है। अधर्म द्रव्य का लक्षण या कार्य जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होना माना गया है। परम्परागत उदाहरण के रूप में यह कहा जाता है कि जिस प्रकार वृक्ष की छाया पथिक के विश्राम में सहायक होती उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की अवस्थिति में सहायक होता हैं। जहाँ धर्म द्रव्य गति का माध्यम (चालक) है, वहाँ अधर्म द्रव्य गति का कुचालक है अतः उसे स्थिति का माध्यम कहा गया है। यदि अधर्म द्रव्य नहीं होता, तो जीव व पुद्गल की गति का नियमन असम्भव हो जाता और वे अनन्त आकाश में बिखर जाते। जिस प्रकार वैज्ञानिकदृष्टि से गुरुत्वाकर्षण आकाश में स्थित पुद्गल पिण्डों को नियन्त्रित करता है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी जीव व पुद्गल की गति का नियमन कर उसे विराम देता है। संख्या की दृष्टि से अधर्म द्रव्य को एक और अखण्ड द्रव्य माना गया है। प्रदेश-प्रचयत्व की दृष्टि से इसका विस्तारक्षेत्र लोक तक सीमित होने के कारण इसे असंख्य प्रदेशी माना जाता है, फिर भी वह एक अखण्ड द्रव्य है, क्योंकि उसका विखण्डन सम्भव नहीं है। धर्म और अधर्म द्रव्यों में देश-प्रदेश आदि की कल्पना मात्र वैचारिक स्तर पर ही होती है।

आकाश द्रव्य :

आकाश द्रव्य भी अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत ही आता है, किन्तु जहाँ धर्म और अधर्म द्रव्यों का विस्तार क्षेत्र लोकव्यापी है, वहाँ आकाश का विस्तार क्षेत्र लोक और अलोक दोनों है। आकाश का लक्षण 'अवगाहन' है। वह जीव और अजीव द्रव्यों को स्थान प्रदान करता है। लोक को भी अपने में समाहित करने के कारण आकाश का विस्तार क्षेत्र लोक के बाहर भी मानना आवश्यक है। यही कारण है कि जैन आचार्य आकाश के दो विभाग करते हैं— लोकाकाश और अलोकाकाश। विश्व में जो रिक्त स्थान है वह लोकाकाश है और इस विश्व से बाहर जो रिक्त स्थान है वह अलोकाकाश है। लोक की कोई सीमा हो सकती है किन्तु अलोक की कोई सीमा नहीं है— वह अनन्त है। चूँकि आकाश लोक और अलोक दोनों में है; इसलिए वह अनन्त प्रदेशी है। संख्या की दृष्टि से आकाश को भी एक और अखण्ड द्रव्य माना गया है। उसके देश-प्रदेश आदि की कल्पना भी केवल वैचारिक स्तर तक ही सम्भव है। वस्तुतः आकाश में किसी प्रकार का विभाजन कर पाना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि उसे अखण्ड द्रव्य कहा जाता है। जैन आचार्यों की अवधारणा है कि जिन्हें हम सामान्यतया ठोस पिण्ड समझते हैं उनमें भी आकाश अर्थात् रिक्त स्थान होता है। एक पुद्गल परमाणु में भी दूसरे अनन्त पुद्गल परमाणुओं को अपने में समाविष्ट करने की शक्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब कि उनमें विपुल मात्रा में रिक्त स्थान या आकाश हो। अतः मूर्त्त द्रव्यों में भी आकाश तो निहित ही रहता है। लकड़ी में जब हम कील ठोकते हैं तो वह वस्तुतः उसमें निहित रिक्त स्थान में ही समाहित होती है। इसका तात्पर्य है कि उसमें भी आकाश है। परम्परागत उदाहरण के रूप में यह कहा जाता है कि दूध या जल के भरे हुए ग्लास में यदि धीरे-धीरे शक्कर या नमक डाला जाये तो वह उसमें समाविष्ट हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि दूध या जल से भरे हुए ग्लास में भी रिक्त स्थान अर्थात् आकाश था। वैज्ञानिकों ने भी यह मान लिया है कि प्रत्येक परमाणु में पर्याप्त रूप से रिक्त स्थान होता है। अतः आकाश को लोकालोकव्यापी, एक और अखण्ड द्रव्य मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

पुद्गल-द्रव्य[१]

पुद्गल को भी अस्तिकाय द्रव्य माना गया है। यह मूर्त्त और अचेतन द्रव्य है। पुद्गल का लक्षण शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि माना जाता है। जैन आचार्यों ने हल्कापन, भारीपन, प्रकाश, अंधकार, छाया, आतप आदि को भी पुद्गल का लक्षण माना है। जहाँ धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य माने गये हैं वहाँ पुद्गल अनेक द्रव्य हैं। जैन आचार्यों ने प्रत्येक परमाणु को एक स्वतन्त्र द्रव्य इकाई माना है। वस्तुतः पुद्गल द्रव्य समस्त दृश्य जगत् का मूलभूत घटक है।

---

१. स्टडीज इन जैन फिलॉसॉफी, पृ. २२१

यह दृश्य जगत् पुद्गल के ही विभिन्न संयोगों का विस्तार है। अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर स्कन्ध की रचना करते हैं और इन स्कन्धों से ही मिलकर दृश्य जगत् की सभी वस्तुयें निर्मित होती हैं। नवीन स्कन्धों के निर्माण और पूर्व निर्मित स्कन्धों के संगठन और विघटन की प्रक्रिया के माध्यम से ही दृश्य जगत् में परिवर्तन घटित होते हैं और विभिन्न वस्तुएँ और पदार्थ अस्तित्व में आते हैं।

जैन आचार्यों ने पुद्गल को स्कन्ध और परमाणु इन दो रूपों में विवेचित किया है। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से ही स्कन्ध बनते हैं या स्कन्ध टूटकर स्कन्ध बनते हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि पुद्गल द्रव्य का अन्तिम घटक परमाणु ही है। प्रत्येक परमाणु में स्वभाव से एक रस, एक रूप, एक गन्ध और शीत-उष्ण या स्निग्ध-रुक्ष में से कोई दो स्पर्श पाये जाते हैं।

जैन आगमों में वर्ण पाँच माने गये हैं—लाल, पीला, नीला, सफेद और काला; गन्ध दो हैं—सुगन्ध और दुर्गन्ध; रस पाँच हैं— रिक्त, कटु, कसैला, खट्टा और मीठा; और इसी प्रकार स्पर्श आठ माने गये हैं— शीत और उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष, मृदु और कर्कश, हल्का और भारी। स्वतन्त्र परमाणु में अन्तिम चार स्पर्श नहीं होते हैं। ये चार स्पर्श तभी सम्भव होते हैं जब परमाणुओं से स्कन्धों की रचना होती है और तभी उनमें मृदु, कठोर, हल्केऔर भारी गुण भी प्रकट हो जाते हैं। परमाणु एक प्रदेशी होता है जब कि स्कन्ध में दो या दो से अधिक असंख्य प्रदेश भी हो सकते हैं। स्कन्ध, स्कन्ध-देश, स्कन्ध-प्रदेश और परमाणु ये चार पुद्गल द्रव्य के विभाग हैं। इनमें परमाणु निरवयव है, आगम में उसे आदि, मध्य और अन्त से रहित बताया गया है इसके विपरीत स्कन्ध में आदि और अन्त होते हैं। न केवल भौतिक वस्तुएँ अपितु शरीर, इन्द्रियाँ और मन भी स्कन्धों का ही खेल है।

स्कन्धों के प्रकार :

जैनदर्शन में स्कन्धों के निम्न ६ प्रकार माने गये हैं:—

१. स्थूल-स्थूल—इस वर्ग केअन्तर्गत विश्व के समस्त ठोस पदार्थ आते हैं। इस वर्ग के स्कन्धों की विशेषता यह है कि छिन्न-भिन्न होने पर मिलने में असमर्थ होते हैं, जैसे-पत्थर।

२. स्थूल—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होने पर स्वयं आपस में मिल जाते हैं वे स्थूल स्कन्ध कहे जाते हैं। इसके अन्तर्गत विश्व के तरल द्रव्य आते हैं, जैसे—पानी, तेल आदि।

३. स्थूल-सूक्ष्म—जो पुद्गल स्कन्ध छिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते हों अथवा जिनका ग्रहण या लाना-ले जाना सम्भव नहीं हो, किन्तु जो चक्षु इन्द्रिय के या अनुभूति के विषय हों वे स्थूल-सूक्ष्म या बादर-सूक्ष्म कहे जाते हैं, जैसे—प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि।

४. सूक्ष्म-स्थूल—जो विषय दिखाई नहीं देते हैं किन्तु हमारी ऐन्द्रिक अनुभूति के विषय बनते हैं, जैसे—सुगन्ध, शब्द आदि। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विद्युत धारा का प्रवाह और अदृश्य, किन्तु अनुभूत गैस भी इस वर्ग के अन्तर्गत आती है। जैन आचार्यों ने ध्वनि-तरंग आदि को भी इसी वर्ग के अन्तर्गत माना है। वर्तमान युग में इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों द्वारा जो चित्र आदि का सम्प्रेषण किया जाता है, उसे भी हम इसी वर्ग के अन्तर्गत रख सकते हैं।

५. सूक्ष्म—जो स्कन्ध या पुद्गल इन्द्रिय के माध्यम से ग्रहण नहीं किये जा सकते हों किन्तु जिनके परिणाम या कार्य अनुभूति के विषय होते हैं, तो वे इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। जैनाचार्यों ने कर्मवर्गणा, जो-जो जीवों के बन्धन का कारण है, को इसी वर्ग में माना है। इसी प्रकार मनोवर्गणा आदि भी इसी वर्ग के हैं।

६. अति सूक्ष्म—द्वयणुक आदि से उत्पन्न छोटे—स्कन्ध या परमाणु अति सूक्ष्म माने गये हैं।

स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया :

स्कन्ध की रचना दो प्रकार से होती है—एक ओर बड़े-बड़े स्कन्धों के टूटने से या छोटे-छोटे स्कन्धों के संयोग से नवीन स्कन्ध बनते हैं, तो दूसरी ओर परमाणुओं में निहित स्वाभाविक स्निग्धता और रुक्षता के कारण परस्पर बन्ध होता है, जिससे स्कन्धों की रचना होती है। इसलिए यह कहा गया है कि संघात और भेद से स्कन्ध की रचना होती है। संघात का तात्पर्य एकत्रित होना और भेद का तात्पर्य टूटना है। किस प्रकार से परमाणुओं के परस्पर मिलने से स्कन्ध आदि की रचना होती है, इस प्रश्न पर जैनाचार्यों ने विस्तृत चर्चा की है किन्तु विस्तारभय से उसे यहाँ वर्णित करना सम्भव नहीं है। इस हेतु इच्छुक पाठक तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय की टीकाओं का अवलोकन करें। इस सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मतभेद भी है।

जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अंधकार, प्रकाश, छाया, शब्द, गर्मी आदि को पुद्गल द्रव्य का ही पर्याय माना है। इस दृष्टि से जैनदर्शन का पुद्गल विचार आधुनिक विज्ञान के बहुत अधिक निकट है।

जैनधर्म की ही ऐसी अनेक मान्यतायें हैं, जो कुछ वर्षों तक अवैज्ञानिक व पूर्णतः काल्पनिक लगती थीं, किन्तु आज विज्ञान से प्रमाणित हो रही हैं। उदाहरण के रूप में—प्रकाश, अंधकार, ताप, छाया और शब्द आदि पौद्गलिक हैं। पूर्व में जैन आगमों की इस मान्यता पर कोई विश्वास नहीं करता था, किन्तु आज उनकी पौद्गलिकता सिद्ध हो चुकी है। जैन आगमों का यह कथन है कि शब्द न केवल पौद्गलिक है, अपितु वह ध्वनि रूप में उच्चरित होकर लोकान्त तक की यात्रा करता है। इस तथ्य को कल तक कोई भी स्वीकार नहीं करता था, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने

अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक ध्वनि उच्चारित होने के बाद अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है और उसकी यह यात्रा, चाहे अत्यन्त क्षीण रूप में ही क्यों न हो, लोकान्त तक होती है। जैनों की केवलज्ञानी या अवधिज्ञानी सम्बन्धी यह अवधारणा है कि वे चर्म-चक्षु के द्वारा गृहीत नहीं हो रहे दूरस्थ विषयों का सीधा प्रत्यक्षीकरण कर लेते हैं—कुछ वर्षों पूर्व तक यह सब कपोल कल्पना ही लगती थी, किन्तु आज जब टेलीविजन का अविष्कार हो चुका है, तब यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं रही है। जिस प्रकार से ध्वनि की यात्रा होती है उसी प्रकार प्रत्येक भौतिक पिण्ड से प्रकाश-किरणें परावर्तित होती हैं और वे भी ध्वनि के समान ही लोक में अपनी यात्रा करती हैं तथा प्रत्येक वस्तु या घटना का चित्र विश्व में संप्रेषित कर देती हैं। आज यदि मानव मस्तिष्क में टेलीविजन सेट की ही तरह चित्रों को ग्रहण करने का सामर्थ्य विकसित हो जाये, तो दूरस्थ पदार्थों एवं घटनाओं के हस्तेमलकवत् ज्ञान में कोई बाधा नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ से प्रकाश व छाया के रूप में जो किरणें परावर्तित हो रही हैं, वे तो हम सबके पास पहुँच ही रही हैं। आज यदि हमारे चैतन्य मस्तिष्क की ग्रहणशक्ति विकसित हो जाये तो दूरस्थ विषयों का ज्ञान असम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन धार्मिक कहे जाने वाले साहित्य में भी बहुत कुछ ऐसा है, जो या तो आज विज्ञान सम्मत सिद्ध हो चुका है अथवा जिसके विज्ञान सम्मत सिद्ध होने की संभावना पूर्णतः निरस्त नहीं हुई है।

अनेक आगम वचन या सूत्र ऐसे हैं, जो कल तक अवैज्ञानिक प्रतीत होते थे, आज वैज्ञानिक सिद्ध हो रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं, इन सूत्रों की वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में जो व्याख्या की गयी, वह अधिक समीचीन प्रतीत होती है। उदाहरण के रूप में परमाणुओं के पारस्परिक बन्धन से स्कन्ध के निर्माण को समझाने हेतु तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय का एक सूत्र आता है—'स्निग्धरुक्षत्वात् बन्धः।' इसमें स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं के एक-दूसरे से जुड़कर स्कन्ध बनाने की बात कही गयी है। सामान्य रूप से इसकी व्याख्या यह कहकर ही की जाती थी कि स्निग्ध (चिकने) एवं रुक्ष (खुरदुरे) परमाणुओं में बन्ध होता है, किन्तु आज हम इस सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं कि स्निग्ध अर्थात् धनात्मक विद्युत् से आवेशित एवं रुक्ष अर्थात् ऋणात्मक विद्युत् से आवेशित सूक्ष्म-कण जैनदर्शन की भाषा में परमाणु मिलकर स्कन्ध (Molecule) का निर्माण करते हों, तो तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र अधिक विज्ञान सम्मत प्रतीत होता है।

जहाँ तक भौतिक तत्त्व के अस्तित्व एवं स्वरूप का प्रश्न है वैज्ञानिकों एवं जैन आचार्यों में अधिक मतभेद नहीं है। परमाणु या पुद्गल कणों में जिस अनन्त शक्ति का निर्देश जैन आचार्यों ने किया था, वह अब आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों से सिद्ध हो रहा है। आधुनिक वैज्ञानिक इस

तथ्य को सिद्ध कर चुके हैं कि एक परमाणु का विस्फोट भी कितनी अधिक शक्ति का सृजन कर सकता है। वैसे भी भौतिक पिण्ड या पुद्‌गल की अवधारणा ऐसी है, जिस में वैज्ञानिकों एवं जैन विचारकों में कोई अधिक मतभेद नहीं देखा जाता। परमाणुओं के द्वारा स्कन्ध (Molecule) की रचना का जैन सिद्धान्त कितना वैज्ञानिक है, इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। विज्ञान जिसे परमाणु कहता था, वह अब टूट चुका है। वास्तविकता तो यह है कि जिसका विभाजन नहीं हो सके वही भौतिक परमाणु है। इस प्रकार आज हम देखते हैं कि विज्ञान का तथाकथित परमाणु खण्डित हो चुका है, जब कि जैनदर्शन का परमाणु अभी वैज्ञानिकों की पकड़ में आ ही नहीं पाया है। वस्तुतः जैनदर्शन में जिसे परमाणु कहा जाता है, उसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने क्वार्क नाम दिया है। आज भी वे उसकी खोज में लगे हुए हैं। समकालीन भौतिकीविदों की क्वार्क की परिभाषा यह है कि जो विश्व का सरलतम और अन्तिम घटक है, वही क्वार्क है। आज भी क्वार्क को पूर्णतः व्याख्यायित करने में वैज्ञानिक सफल नहीं हो पाये हैं।

आधुनिक विज्ञान प्राचीन अवधारणाओं को सम्पुष्ट करने में किस प्रकार सहायक हुआ है, उसका एक उदाहरण यह है कि जैन तत्त्वमीमांसा में एक ओर यह अवधारणा रही है कि एक पुद्‌गल परमाणु जितनी जगह घेरता है—वह एक आकाश प्रदेश कहलाता है। दूसरे शब्दों में मान्यता यह है कि एक आकाश प्रदेश में एक परमाणु ही रह सकता है, किन्तु दूसरी ओर आगमों में यह भी उल्लेख है कि एक आकाश प्रदेश में अनन्त पुद्‌गल परमाणु समा सकते हैं। इस विरोधाभास का सीधा समाधान हमारे पास नहीं था। लेकिन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व में कुछ ऐसे ठोस द्रव्य हैं जिनका एक वर्ग इंच का वजन लगभग ८ सौ टन होता है। इससे यह भी फलित होता है कि जिन्हें हम ठोस समझते हैं, वे वस्तुतः कितने पोले हैं। अतः सूक्ष्म अवगाहनशक्ति के कारण यह सम्भव है कि एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु भी समाहित हो जायें।[१]

काल द्रव्य :

काल द्रव्य को अनास्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत माना गया है। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं—आगमिक युग तक जैनपरम्परा में काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के सन्दर्भ में पर्याप्त मतभेद था। आवश्यकचूर्णि (भाग-१, पृ. ३४०-३४१) में काल के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न तीन मतों का उल्लेख हुआ है— १. कुछ विचारक काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर पर्याय रूप मानते हैं। २. कुछ विचारक उसे गुण मानते हैं। ३. कुछ विचारक उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।[२] श्वेताम्बर परम्परा में सातवीं शती तक काल के सम्बन्ध में उक्त तीनों विचारधाराएँ प्रचलित रहीं और

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८/११

२. जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान के सम्बन्धों की विस्तृत विवेचना के लिए देखें- (अ) श्रमण, अक्टुबर-दिसम्बर, १९९२, पृ. १-१२ (ब) Cosmology : Old and New by G. R. Jain

श्वेताम्बर आचार्य अपनी-अपनी मान्यतानुसार उनमें से किसी एक का पोषण करते रहे, जब कि दिगम्बर आचार्यों ने एक मत से काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना। जो विचारक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे, उनका तर्क यह था कि यदि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों (विभिन्न अवस्थाओं) में स्वतः ही परिवर्तित होते रहते हैं तो फिर काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की क्या आवश्यकता है ? आगम में भी जब भगवान् महावीर से यह पूछा गया कि काल क्या है, तो उन्होंने उत्तर में कहा कि—काल जीव-अजीवमय है; अर्थात् जीव और अजीव की पर्यायें ही काल हैं। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि वर्तना अर्थात् परिणमन या परिवर्तन से भिन्न कोई काल द्रव्य नहीं है। इस प्रकार जीव और आजीव की परिवर्तनशील पर्याय को ही काल कहा गया है। कहीं-कहीं काल को पर्याय-द्रव्य कहा गया है। इन सब विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, चूँकि आगम में जीव-काल और अजीव-काल ऐसे काल के दो वर्गों के उल्लेख मिलते हैं, अतः कुछ जैन विचारकों ने यह माना कि जीव और अजीव द्रव्यों की पर्यायों से पृथक् काल द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हैं। प्राचीन स्तर के आगमों में सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र[१] में काल का स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में उल्लेख पाया जाता है। जैसा कि हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं कि न केवल उमास्वाति के युग तक अर्थात् ईसा की तृतीय-चतुर्थ शताब्दी तक अपितु चूर्णिकाल अर्थात् ईसा की सातवीं सदी तक काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं—इस प्रश्न पर जैन दार्शनिकों में मतभेद था। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान पाठ में उमास्वाति को यह उल्लेख करना पड़ा कि कुछ विचारक काल को भी द्रव्य मानते हैं (कालश्चेत्यके तत्त्वार्थसूत्र ५/३८)। इसका फलितार्थ यह भी है, कि उस युग में कुछ जैन दार्शनिक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे। उनके अनुसार सर्व द्रव्यों की जो पर्यायें हैं, वे ही काल हैं। इस मान्यता के विरोध में दूसरे पक्ष के द्वारा यह कहा गया कि अन्य द्रव्यों की पर्यायों से पृथक् काल स्वतन्त्र द्रव्य है, क्योंकि किसी भी पदार्थ में बाह्य निमित्त अर्थात् अन्य द्रव्य के उपकार के बिना स्वतः ही परिणमन सम्भव नहीं होता। जैसे ज्ञान आत्मा का स्वलक्षण है, किन्तु ज्ञानरूप पर्यायें तो अपने ज्ञेय विषय पर ही निर्भर करती हैं। आत्मा को ज्ञान तभी हो सकता है जब ज्ञान के विषय अर्थात् ज्ञेय वस्तु-तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता हो। अतः अन्य सभी द्रव्यों के परिणमन के लिए किसी बाह्य निमित्त को मानना आवश्यक है। सभी द्रव्यों में पर्याय परिवर्तन क्षमता आवश्यक है, चाहे सभी द्रव्यों में पर्याय परिवर्तन की क्षमता स्वतः हो, किन्तु उनके निमित्त कारण के रूप में काल द्रव्य को स्वतन्त्र द्रव्य मानना आवश्यक है। यदि काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना जायेगा तो पदार्थों के परिणमन (पर्याय परिवर्तन) का कोई निमित्त कारण नहीं होगा। परिणमन के निमित्त कारण के अभाव में पर्यायों का अभाव होगा और पर्यायों

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र २८/७-८

से अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि द्रव्य का अस्तित्व भी पर्यायों से पृथक् नहीं है। इस प्रकार सर्वशून्यता का प्रसंग आ जायेगा। अतः पर्याय परिवर्तन (परिणमन) के निमित्त कारण के रूप में काल को स्वतन्त्र तत्त्व मानने वाले दार्शनिकों के इस तर्क के विरोध में यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि अन्य द्रव्यों केपरिणमन (पर्याय परिवर्तन) के हेतु के रूप में काल नामक स्वतन्त्र द्रव्य का मानना आवश्यक है, तो फिर अलोकाकाश में होनेवाले पर्याय परिवर्तन का हेतु (निमित्त कारण) क्या है ? क्योंकि अलोकाकाश में तो आगम में काल द्रव्य का अभाव माना गया है, यदि उसमें कालद्रव्य के अभाव में पर्याय परिवर्तन संभव है, तो फिर लोकाकाश में भी अन्य द्रव्यों के पर्याय परिवर्तन हेतु काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानना आवश्यक नहीं है। पुनः अलोकाकाश में काल के अभाव में यदि पर्याय परिवर्तन नहीं मानोगे तो फिर पर्याय परिवर्तन केअभाव में आकाश द्रव्य में द्रव्य का सामान्य लक्षण 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' सिद्ध नहीं हो सकेगा और यदि अलोकाकाश में पर्याय परिवर्तन माना जाता है तो उस पर्याय परिवर्तन का निमित्त काल तो नहीं हो सकता, क्योंकि उसका वहाँ अभाव है। इस तर्क के प्रत्युत्तर में काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाले आचार्यों का प्रत्युत्तर यह है कि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, उसमें अलोकाकाश एवं लोकाकाश ऐसे जो दो भेद किए जाते हैं, वे मात्र औपचारिक हैं। लोकाकाश में काल द्रव्य के निमित्त से होने वाला पर्याय परिवर्तन संपूर्ण आकाश द्रव्य का ही पर्याय परिवर्तन है। अलोकाकाश और लोकाकाश दोनों आकाश द्रव्य के ही अंश हैं, वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं। किसी भी द्रव्य के एक अंश में होनेवाला परिवर्तन संपूर्ण द्रव्य का परिवर्तन माना जाता है, अतः लोकाकाश में जो पर्याय परिवर्तन होता है, वह अलोकाकाश पर भी घटित होता है और लोकाकाश में पर्याय परिवर्तन काल द्रव्य के निमित्त से होता है। अतः लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों के पर्याय परिवर्तन का निमित्त काल द्रव्य ही है। ज्ञातव्य है कि लगभग सातवीं शताब्दी से काल का स्वतन्त्र द्रव्य होना सर्वमान्य हो गया।

जैन दार्शनिकों ने काल को अचेतन, अमूर्त्त (अरूपी) तथा अनस्तिकाय द्रव्य कहा है। इसका कार्य या लक्षण वर्तना माना गया है। विभिन्न द्रव्यों में जो पर्याय परिवर्तन होता है, उसका निमित्त कारण काल द्रव्य होता है। यद्यपि उस पर्याय-परिणमन का उपादान-कारण तो स्वयं वह द्रव्य ही होता है, जिस प्रकार धर्म-द्रव्य जीव, पुद्गल आदि की स्वतः प्रसूत गति का निमित्त करण है या जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था प्राणी की अपनी शारीरिक संरचना के परिणामस्वरूप ही घटित होती है, फिर भी उनमें निमित्त कारण के रूप में काल भी अपना कार्य करता है। जैनाचार्यों ने काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, संयोग आदि जिस कारण-पंचक की चर्चा की है, उनमें काल को भी एक महत्त्वपूर्ण घटक माना गया है। जैन दार्शनिक साहित्य में काल द्रव्य

की चर्चा अनेक प्रकार से की गई है। सर्वप्रथम व्यवहारकाल और निश्चयकाल; ऐसे काल के दो विभाग किये गये हैं। अन्य द्रव्यों की वर्तना या परिणमन की शक्ति ही द्रव्यकाल या निश्चयकाल है। व्यवहारकाल को समय, आवलिका, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि रूप कहा गया है। संसार में भूत, भविष्य और वर्तमान सम्बन्धी जो काल व्यवहार है, वह भी इसी से होता है। जैन-परम्परा में व्यवहार काल का आधार सूर्य की गति ही मानी गई है, साथ ही यह भी माना गया है कि यह व्यवहार मनुष्य क्षेत्र तक ही सीमित है। देवलोक आदि में इसका व्यवहार मनुष्य क्षेत्र की अपेक्षा से ही है। मनुष्य-क्षेत्र में ही समय, आवलिका, घटिका, प्रहर, रात-दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि का व्यवहार होता है। व्यक्तियों में बालक, युवा और वृद्ध अथवा नूतन, जीर्ण आदि का जो व्यवहार देखा जाता है वह सब भी काल के ही कारण है, वासनाकाल, शिक्षाकाल, दीक्षाकाल आदि की अपेक्षा से भी काल केअनेक भेद किये जाते हैं, किन्तु विस्तार भय से उन सबकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में प्रत्येक कर्म प्रकृति के सत्ता-काल आदि की भी चर्चा जैनागमों में मिलती है।

संख्या की दृष्टि से अधिकांश जैन आचार्यों ने काल द्रव्य को एक नहीं, अपितु अनेक माना है। उनका कहना है कि धर्म, अधर्म, आकाश की तरह काल एक और अखण्ड द्रव्य नहीं हो सकता। कालद्रव्य अनेक हैं, क्योंकि एक ही समय में विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न पर्यायें या अवस्थाएँ होती हैं, अतः उनका निमित्त कारण एक ही काल नहीं हो सकता। अतः काल द्रव्य को अनेक या असंख्यात द्रव्य मानना होगा। पुनः प्रत्येक पदार्थ की भूत, भविष्य की अपेक्षा से अनन्त पर्याएँ होती हैं और उन अनन्त पर्यायों के निमित्त अनन्त कालाणु होंगे, अतः कालाणु अनन्त माने गये हैं। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि काल द्रव्य को असंख्य कहा गया, किन्तु कालाणु अनन्त माने गये ऐसा क्यों ? इसका उत्तर यह है कि काल द्रव्य लोकाकाश तक सीमित है और उसकी इस सीमितता की अपेक्षा से उसे अनन्त द्रव्य न कहकर असंख्यात (ससीम) द्रव्य कहा गया। किन्तु जीव अनन्त हैं और उन अनन्त जीवों की भूत, भविष्य की अनन्त पर्यायें होती हैं; उन अनन्त पर्यायों में प्रत्येक का निमित्त एक कालाणु होता है, अतः कालाणु अनन्त माने गये। सामान्य अवधारणा यह है कि प्रत्येक आत्म-प्रदेश, पुद्गल-परमाणु और आकाश-प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान कालाणु स्थित रहते हैं— अतः कालाणु अनन्त हैं। राजवार्तिक आदि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कालाणुओं को अन्योन्य प्रवेश से रहित पृथक्-पृथक् असंचित दशा में लोकाकाश में स्थित माना गया है।[१]

किन्तु कुछ श्वेताम्बर आचार्यों ने इस मत का विरोध करते हुए यह भी माना है कि काल

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ५

द्रव्य एक एवं लोकव्यापी है, वह अणुरूप नहीं है। किन्तु ऐसी स्थिति में काल में भी प्रदेश-प्रचयत्व मानना होगा और प्रदेश-प्रचयत्व मानने पर वह भी अस्तिकाय वर्ग केअन्तर्गत आ जायेगा। इसके उत्तर में यह कहा गया कि तिर्यक्-प्रचयत्व का अभाव होने से काल अनास्तिकाय है। ऊर्ध्व-प्रचयत्व एवं तिर्यक्-प्रचयत्व की चर्चा हम पूर्व में अस्तिकाय की चर्चा केअन्तर्गत कर चुके हैं।

सूक्ष्मता की अपेक्षा से कालाणुओं की अपेक्षा आकाश प्रदेश और आकाश प्रदेश की अपेक्षा पुद्गल परमाणु अधिक सूक्ष्म माने गये हैं। क्योंकि एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त पुद्गल परमाणु होने की अपेक्षा आकाश प्रदेश स्थूल है और आकाश प्रदेश की अपेक्षा कालाणु स्थूल हैं।

संक्षेप में काल द्रव्य में वर्तना हेतुत्व के साथ-साथ अचेतनत्व, अमूर्त्तत्व, सूक्ष्मत्व आदि सामान्य गुण भी माने गये हैं। इसी प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण जो अन्य द्रव्य में हैं, वे भी काल द्रव्य में पाये जाते हैं। काल द्रव्य में यदि उत्पाद-व्यय लक्षण नहीं रहे तो वह अपरिवर्तनशील द्रव्य होगा और जो स्वतः अपरिवर्तनशील हो वह दूसरों के परिवर्तन में निमित्त नहीं हो सकेगा। किन्तु कालद्रव्य का विशिष्ट लक्षण तो उसका वर्तना नामक गुण ही है जिसके माध्यम से वह अन्य सभी द्रव्यों के पर्याय परिवर्तन में निमित्त का कारण बनकर कार्य करता है। पुनः यदि काल द्रव्य में ध्रौव्यत्व का अभाव मानेंगे तो उसका द्रव्यत्व समाप्त हो जायेगा। अतः उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानने पर उसमें उत्पाद-व्यय के साथ-साथ ध्रौव्यत्व भी मानना होगा।

कालचक्र :

अर्धमागधी आगम साहित्य में काल की चर्चा उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल के रूप में भी उपलब्ध होती है। इनमें प्रत्येक के छह-छह विभाग किये जाते हैं, जिन्हें आरे कहा जाता है। ये छह आरे निम्न हैं– १. सुषमा-सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमा-दुषमा, ४. दुषमा-सुषमा, ५. दुषमा और ६. दुषमा-दुषमा। उत्सर्पिणी काल में इनका क्रम विपरीत होता है। जैनों की कालचक्र की यह कल्पना बौद्ध और हिन्दु कालचक्र की कल्पना से भिन्न है। किन्तु इन सभी में इस बात को लेकर समानता है कि इन सभी में कालचक्र केविभाजन का आधार सुख-दुःख एवं मनुष्य के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास को बनाया है।

जैनों के अनुसार उत्सर्पिणी काल में क्रमशः विकास और अवसर्पिणी काल में क्रमशः पतन होता है। ज्ञातव्य है कि कालचक्र का यह प्रवर्त्तन जंबूद्वीप आदि के भरत क्षेत्र आदि कुछ विभागों में ही होता है।

इस प्रकार पाँच अस्तिकाय द्रव्यों एवं एक अनास्तिकाय द्रव्य का विवेचन करने के पश्चात् यहाँ आत्मा, पुद्गल आदि द्रव्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना आवश्यक है।

षट्द्रव्यों का पारस्परिक सहसम्बन्ध :

षट् द्रव्यों में जीव, पुद्गल और काल सक्रिय हैं तथा धर्म, अधर्म और आकाश निष्क्रिय हैं, फिर भी ये सक्रिय द्रव्यों के सहयोगी अवश्य हैं। धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की गति में सहयोगी है तो अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की अवस्थिति या स्थिरता में सहयोगी है। आकाश का कार्य जीव और पुद्गल को स्थान देना है तो कालद्रव्य का कार्य उनके परिवर्तन में सहयोगी होना है। पुद्गल का कार्य जहाँ एक ओर भौतिक जगत् की सर्जना है तो दूसरी ओर जीव के शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के निर्माण में और अन्य सर्जनात्मक कार्यों में सहयोगी होना है, जब कि जीव द्रव्य का कार्य परस्पर एक-दूसरे का सहयोग करना है। इसी बात को तत्त्वार्थसूत्र में 'परस्परीग्रहोजीवानाम्' कहकर अभिव्यक्त किया गया है।

जड़ और चेतन का पारस्परिक सहयोग :

जैनदर्शन की विशेषता यह है कि वह न केवल जड़ और चेतन द्रव्यों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है, अपितु यह भी मानता है कि संसार दशा में जीव और पुद्गल एक-दूसरे का सहयोग करते हैं, वे परस्पर सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं हैं। दूसरे शब्दों में अपनी सत्ता की अपेक्षा वे निरपेक्ष हैं, किन्तु सांसारिक अस्तित्व में वे परस्पर सापेक्ष हैं और एक-दूसरे से प्रभावित होते भी हैं और एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। यही कारण है कि जैनदर्शन में शरीर और चेतना, द्रव्य कर्म और भावकर्म, द्रव्यमन और भावमन, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय का एक-दूसरे से प्रभावित होना और प्रभावित करना माना गया है।

संसार-दशा में कोई भी जीव बिना शरीर के नहीं होता है और शरीर किसी भी प्रकार का हो, वह एक पौद्गलिक संरचना है, इसी प्रकार द्रव्येन्द्रियाँ तथा द्रव्यमन भी पौद्गलिक संरचना है। संसार-दशा में जीव जिन कर्मों से बद्ध माना जाता है, वे भी पौद्गलिक संरचनाएँ ही हैं। द्रव्यकर्म और उनसे निर्मित शरीर, द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन हमारे मनोभावों को प्रभावित करते हैं, परिणामतः शारीरिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में 'योग' कहा गया है, जन्म लेती हैं —फिर मनोभावों के कषाय अथवा राग-द्वेष से संश्लिष्ट होने पर नये द्रव्यकर्मों का बन्ध होता है। फिर उन द्रव्यकर्मों की विपाक दशा में मनोभाव बनते हैं और इस प्रकार जीव का संसार-चक्र प्रवाहमान बना रहता है। द्रव्यकर्मजन्य ये मनोभाव ही द्रव्यलेश्याओं की संरचना करते हैं। द्रव्यलेश्या से मनोभाव बनते हैं और मनोभावों से द्रव्यलेश्या बनती है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म का और भावकर्म से द्रव्यकर्म का भी पारस्परिक सहसम्बन्ध है।

द्रव्य या सत् की अनेकान्तदृष्टि :

सत् के सम्बन्ध में एकान्त परिवर्तनशीलता का या भेदवादी दृष्टिकोण और एकान्त अपरिवर्तनशीलता का या अभेदवादी (अद्वैतवादी) दृष्टिकोण इन दोनों में से किसी एक को अपनाने पर न तो व्यवहार जगत् की व्याख्या सम्भव है न धर्म और नैतिकता का कोई स्थान है। यही कारण था कि आचारमार्गीय परम्परा के प्रतिनिधि भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने उनका परित्याग आवश्यक समझा। भगवान महावीर की विशेषता यह रही कि उन्होंने न केवल एकान्त शाश्वतवाद का और एकान्त उच्छेदवाद का परित्याग किया, अपितु अपनी अनेकात्मवादी और समन्वयवादी परम्परा के अनुसार उन दोनों विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित किया। परम्परागत दृष्टि से यह माना जाता है कि भगवान् महावीर ने केवल "उपनेइ वा, विगमइ वा, धुवेइ वा" इस त्रिपदी का उपदेश दिया था। समस्त जैन दार्शनिक वाङ्मय का विकास इसी त्रिपदी के आधार पर हुआ है। परमार्थ या सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में भगवान महावीर का उपर्युक्त कथन ही जैनदर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही सत् के लक्षण हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। (तत्त्वार्थ, ५/२९) उत्पाद और व्यय सत् केपरिवर्तनशील पक्ष को बताते हैं तो ध्रौव्य उसकेअविनाशी पक्ष को। सत् का ध्रौव्य गुण उसकी पर्यायों की उत्पत्ति एवं विनाश का आधार है, उनकेमध्य योजक कड़ी है। विनाश के लिए उत्पत्ति और उत्पत्ति के लिए विनाश आवश्यक है, किन्तु उत्पत्ति और विनाश दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की आवश्यकता होती है, जिसमें उत्पत्ति और विनाश की ये प्रक्रियायें घटित होती हों। यदि हम ध्रौव्य पक्ष को अस्वीकार करेंगे तो उत्पत्ति और विनाश परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगे और सत्ता अनेक एवं असम्बन्धित क्षणजीवी तत्त्वों में विभक्त हो जायेगी, इन परस्पर असम्बन्धित क्षणिक सत्ताओं की अवधारणा से व्यक्तित्व की एकात्मकता का ही विच्छेद हो जायेगा, जिसके अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व और कर्मफल-व्यवस्था ही अर्थविहीन हो जायेगी। इसी प्रकार एकान्त ध्रौव्यता को स्वीकार करने पर भी इस जगत् में चल रहे उत्पत्ति और विनाश के क्रम को समझाया नहीं जा सकेगा। जैनदर्शन में सत् के ही इस अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्य और गुण तथा परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है।

द्रव्य और गुण :

जैन-परम्परा में सत् और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया है। मात्र यही नहीं, उसमें सत् के स्थान पर 'तत्त्व' या 'द्रव्य' इन दो शब्दों का ही प्रयोग देखा गया है। जो अस्तिकाय हैं, वे द्रव्य ही

हैं। सर्वप्रथम द्रव्य की परिभाषा उत्तराध्ययनसूत्र में है। उसमें **'गुणानां आसवो दव्वो'** (२८/६) कहकर गुणों के आश्रय स्थल को द्रव्य कहा गया है, इस परिभाषा में द्रव्य का सम्बन्ध गुणों से माना गया है, किन्तु इसके पूर्व गाथा में यह भी कहा गया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय सभी को जानने वाला ज्ञान है (उत्तराध्ययनसूत्र २८/५)। उसमें यह भी माना गया है कि गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं और पर्याय गुण और द्रव्य-दोनों केआश्रित रहती हैं। इस परिभाषा का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय में आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध माना गया है। यह परिभाषा भेदवादी न्याय और वैशेषिक दर्शन के निकट है। द्रव्य की दूसरी परिभाषा **'गुणानां समूहो दव्वो'** के रूप में भी की गयी है। इस परिभाषा का समर्थन तत्त्वार्थसूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका (५/२/पृ. २६७/४) में आचार्य पूज्यपाद ने किया है। इसमें द्रव्य को 'गुणों का समुदाय' कहा गया है, जहाँ प्रथम परिभाषा द्रव्य और गुण में आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध के द्वारा भेद का संकेत करती है, यह परिभाषा वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद के अधिक निकट है, वहाँ यह दूसरी परिभाषा बौद्ध-परम्परा के द्रव्य-लक्षण के अधिक समीप प्रतीत होती है, क्योंकि दूसरी परिभाषा के अनुसार गुणों से पृथक् द्रव्य का कोई अस्त्वि नहीं माना गया। इस द्वितीय परिभाषा में गुणों के समुदाय या स्कन्ध को ही द्रव्य कहा गया है। यह परिभाषा गुणों से पृथक् द्रव्य की सत्ता न मानकर गुणों के समुदाय को ही द्रव्य मान लेती है। इस प्रकार यद्यपि ये दोनों ही परिभाषायें जैन चिन्तनधारा में ही विकसित हैं, किन्तु एक पर वैशेषिक-दर्शन का और दूसरी पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव है। ये दोनों परिभाषायें जैन-दर्शन की अनेकांतिक दृष्टि का पूर्ण परिचय नहीं देतीं, क्योंकि एक में द्रव्य और गुण में भेद माना गया है तो दूसरी में अभेद, जब कि जैन दृष्टिकोण भेद-अभेद मूलक है। उमास्वाति केतत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धमान्य पाठ में **'सत् द्रव्यलक्षणं'** (५/२९) कहकर सत् को द्रव्य का लक्षण बताया है। इस परिभाषा से यह फलित होता है कि द्रव्य का मुख्य लक्षण अस्तित्व है। जो अस्तिवान् है, वही द्रव्य है। इसी आधार पर यह कहा गया है कि जो त्रिकाल में अपने स्वभाव का परित्याग न करे उसे ही सत् या द्रव्य कहा जा सकता है। तत्त्वार्थसूत्र (५/२९) में उमास्वाति ने एक ओर द्रव्य का लक्षण सत् बताया तो दूसरी ओर सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक बताया। अतः द्रव्य को भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा जा सकता है। साथ ही उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (५/३८) में द्रव्य को परिभाषित करते हुए उसे गुण, पर्याय से युक्त भी कहा है। आचार्य कुन्दकुन्दने 'पंचास्तिकायसार' और 'प्रवचनसार' में इन्हीं दोनों लक्षणों को मिलाकर द्रव्य को परिभाषित किया है। 'पंचास्तिकायसार' (१०) में वे कहते हैं कि 'द्रव्य सत् लक्षण वाला है।' इसी परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार (९५-९६) में वे कहते हैं "जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त गुण पर्याय सहित है उसे द्रव्य कहा

जाता है। "कुन्दकुन्द ने द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में उमास्वाति के सभी लक्षणों को स्वीकार कर लिया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति की विशेषता यह है कि उन्होंने 'गुण पर्यायवत् द्रव्य' कहकर जैनदर्शन के भेद-अभेदवाद को पुष्ट किया है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य की यह परिभाषा भी वैशेषिक सूत्र के '**द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरम् स सत्ता**' (१/२/८) नामक सूत्र के निकट ही सिद्ध होती है। उमास्वाति ने इस सूत्र में कर्म के स्थान पर पर्याय को रख दिया है। जैनदर्शन के सत् सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि द्रव्य या सत्ता परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। परिणमन यह द्रव्य का आधारभूत लक्षण है, किन्तु इसकी प्रक्रिया में द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग भी नहीं करता है। स्व-स्वरूप का परित्याग किये बिना विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने के कारण ही द्रव्य को नित्य कहा जाता है, किन्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य कहा जाता है। उसे इस प्रकार भी समझाया जा सकता है कि मृत्तिका अपने स्व-जातीय धर्म का परित्याग किये बिना घट आदि को उत्पन्न करती है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड का विनाश होता है और जब तक पिण्ड विनष्ट नहीं होता तब तक घट उत्पन्न नहीं होता, किन्तु इस उत्पाद और व्यय में भी मृत्तिका-लक्षण यथावत् बना रहता है। वस्तुतः कोई भी द्रव्य अपने स्व-लक्षण, स्व-स्वभाव अथवा स्व-जातीय धर्म का परित्याग नहीं करता है। द्रव्य अपने गुण या स्व-लक्षण की अपेक्षा से नित्य होता है, क्योंकि स्व-लक्षण का त्याग सम्भव नहीं है। यह स्व-लक्षण ही वस्तु का नित्य पक्ष होता है। इस स्व-लक्षण का त्याग किये बिना वस्तु जिन विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती है, यह पर्याय कहलाती हैं। यह परिवर्तनशील पर्याय ही द्रव्य का अनित्य पक्ष है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य अपने स्व-लक्षण या गुण की अपेक्षा से नित्य और अपनी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा जाता है। उदाहरण के रूप में जीवद्रव्य अपने चैतन्य गुण का कभी परित्याग नहीं करता, किन्तु अपने चेतना लक्षण का परित्याग किए बिना वह देव, मनुष्य, पशु इन विभिन्न योनियों को अथवा बालक, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। जिन गुणों का परित्याग नहीं किया जा सकता, वे ही गुण वस्तु के स्व-लक्षण कहे जाते हैं। जिन गुणों अथवा अवस्थाओं का परित्याग किया जा सकता है, वे पर्याय कहलाती हैं। पर्याय बदलती रहती हैं, किन्तु गुण वही बना रहता है। ये पर्याय भी दो प्रकार की कही गयी हैं— १. स्वभाव पर्याय और २. विभाव पर्याय। जो पर्याय या अवस्थाएँ स्व-लक्षण के निमित्त से होती हैं वे स्वभाव-पर्याय कहलाती हैं और जो अन्य निमित्त से होती हैं वे विभाव-पर्याय कहलाती हैं। उदाहरण के रूप में ज्ञान और दर्शन (प्रत्यक्षीकरण) सम्बन्धी विभिन्न अनुभूतिपरक अवस्थायें आत्मा की स्वभाव पर्याय हैं। क्योंकि ये आत्मा के स्व-लक्षण 'उपयोग' से फलित होती हैं, जब कि क्रोध आदि कषाय

भाव कर्म के निमित्त से या दूसरों के निमित्त से होते हैं, अतः वे विभाव पर्याय हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि इन गुणों और पर्यायों का अधिष्ठान या उपादान तो द्रव्य ही है। द्रव्य, गुण और पर्यायों से अभिन्न हैं, वे परस्पर सापेक्ष हैं।

गुण का स्वरूप :

द्रव्य को गुण और पर्यायों का आधार माना गया है। वस्तुतः गुण द्रव्य के स्वभाव या स्व-लक्षण होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने 'द्रव्याश्रयनिर्गुणा गुणाः' (५/४०) कह कर यह बताया है कि गुण द्रव्य में रहते हैं, परन्तु वे स्वयं निर्गुण होते हैं। गुण निर्गुण होते हैं यह परिभाषा सामान्यतया आत्म-विरोधी सी लगती है। किन्तु इस परिभाषा की मूलभूत दृष्टि यह है कि यदि हम गुण का भी गुण मानेंगे तो फिर अनवस्थादोष का प्रसंग आयेगा। आगमिक दृष्टि से गुण की परिभाषा इस रूप में की गयी है कि गुण द्रव्य का विधान है यानि उसका स्व-लक्षण है, जब कि पर्याय द्रव्य का विकार है। गुण भी द्रव्य के समान ही अविनाशी है। जिस द्रव्य का जो गुण है, वह उसमें सदैव रहता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि द्रव्य का जो अविनाशी लक्षण है अथवा द्रव्य जिसका परित्याग नहीं कर सकता है, वही गुण है। गुण वस्तु की सहभावी विशेषताओं का सूचक है।

वे विशेषताएँ या लक्षण जिनके आधार पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से अलग किया जा सकता है, वे विशिष्ट गुण कहे जाते हैं। उदाहरण के रूप में धर्म-द्रव्य का लक्षण गति में सहायक होना है। अधर्म-द्रव्य का लक्षण स्थिति में सहायक होना है। जो सभी द्रव्यों का अवगाहन करता है, उन्हें स्थान देता है, वह आकाश कहा जाता है। इसी प्रकार परिवर्तन काल का लक्षण है और उपयोग जीव का लक्षण है। अतः गुण वे हैं, जिनके आधार पर हम किसी द्रव्य को पहचानते हैं और उसका अन्य द्रव्य से पृथक्त्व स्थापित करते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र (२८/११-१२) में जीव और पुद्गल के अनेक लक्षणों का भी चित्रण हुआ है। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य एवं उपयोग—ये जीव के विशिष्ट लक्षण बताये गये हैं और शब्द, प्रकाश, अंधकार, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि को पुद्गल का विशिष्ट लक्षण कहा गया है, किन्तु अस्तित्व गुण जीव और पुद्गल दोनों में पाया जाता है, वह द्रव्यों का सामान्य लक्षण या गुण है। ज्ञातव्य है कि द्रव्य और गुण विचार के स्तर पर ही अलग-अलग माने गये हैं, लेकिन अस्तित्व की दृष्टि से वे पृथक्-पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। गुणों के सन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुछ गुण विशिष्ट होते हैं, जो कुछ ही द्रव्यों में पाये जाते हैं। जैसे—अस्तित्व लक्षण सामान्य है जो सभी द्रव्यों में पाया जाता है, किन्तु चेतना नामक गुण विशेष है; अजीव द्रव्य में उसका अभाव होता है। दूसरे शब्दों में कुछ

गुण सामान्य और कुछ विशिष्ट होते हैं। सामान्य गुणों केआधार पर जाति या वर्ग की पहचान होती है। वे द्रव्य या वस्तुओं का एकत्व प्रतिपादित करते हैं, जब कि विशिष्ट गुण एक द्रव्य का दूसरे से अन्तर स्थापित करते हैं। गुणों के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अनेक गुण सहभावी रूप से एक ही द्रव्य में रहते हैं। इसलिए जैनदर्शन में वस्तु को 'अनन्त धर्मात्मक' कहा गया है। गुणों के सम्बन्ध में एक अन्य विशेषता है कि वे द्रव्य विशेष की विभिन्न पर्यायों में भी बने रहते हैं।

द्रव्य और गुण का भेदाभेद :

कोई भी द्रव्य गुण से रहित नहीं होता। द्रव्य और गुण का विभाजन मात्र वैचारिक स्तर पर किया जाता है, सत्ता के स्तर पर नहीं। गुण से रहित होकर न तो द्रव्य की कोई सत्ता होती है न द्रव्य से रहित गुण की। अतः सत्ता के स्तर पर गुण और द्रव्य में अभेद है, जब कि वैचारिक स्तर पर दोनों में भेद किया जा सकता है।

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि द्रव्य और गुण अन्योन्याश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण का अस्तित्व नहीं है और गुण के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र (५/४०) में गुण की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ''स्व-गुण को छोड़कर जिनका अन्य कोई गुण नहीं होता अर्थात् जो निर्गुण है वही गुण है।'' द्रव्य और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर जैन-परम्परा में हमें तीन प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। आगम गन्थों में द्रव्य और गुण में आश्रय-आश्रयी भाव माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र (२८/६) में द्रव्य को गुण का आश्रय-स्थान माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्रकार केअनुसार गुण द्रव्य में रहते हैं अर्थात् द्रव्य गुणों का आश्रय स्थल हैं किन्तु यहाँ आपत्ति यह हो सकती है कि जब द्रव्य और गुण की भिन्न-भिन्न सत्ता ही नहीं है, तो उनमें आश्रय-आश्रयी भाव किसी प्रकार होगा ? वस्तुतः द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को लेकर किया गया यह विवेचन मूलतः वैशेषिक-परम्परा के प्रभाव का परिणाम है। जैनों के अनुसार सिद्धान्ततः आश्रय-आश्रयी भाव उन्हीं दो तत्त्वों में हो सकता है जो एक-दूसरे से पृथक् सत्ता रखते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पूज्यपाद आदि कुछ आचार्यों ने 'गुणाणां समूहो दव्वो' अथवा 'गुणसमुदायो द्रव्यमिति' कहकर द्रव्य को गुणों का संघात माना है। जब द्रव्य और गुण की अलग-अलग सत्ता ही मान्य नहीं है, तो वहाँ उनके तादात्म्य केअतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अन्य कोई सम्बन्ध मानने का तात्पर्य यह है कि वे एक-दूसरे से पृथक् होकर अपना अस्तित्व रखते हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण बौद्ध अवधारणा से प्रभावित है। यह संघातवाद का ही एक रूप है, जब कि जैन-परम्परा संघातवाद को स्वीकार नहीं करती है। वस्तुतः द्रव्य के साथ गुण और

पर्याय के सम्बन्ध को लेकर तत्त्वार्थसूत्रकार ने जो द्रव्य की परिभाषा दी है वह अधिक उचित जान पड़ती है। तत्त्वार्थसत्रूकार के अनुसार जो गुण और पर्यायों से युक्त है, वही द्रव्य है। वैचारिक स्तर पर तो गुण द्रव्य से भिन्न हैं और उस दृष्टि से उनमें आश्रय-आश्रयी भाव भी देखा जाता है किन्तु अस्तित्व के स्तर पर द्रव्य और गुण एक-दूसरे से पृथक् (विविक्त) सताएँ नहीं हैं। अतः उनमें तादात्म्य भी है। इस प्रकार गुण और द्रव्य में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य जैनदर्शन (पृ. १४४) में लिखते हैं कि गुण से द्रव्य को पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वे द्रव्य से अभिन्न हैं। किन्तु प्रयोजन आदि भेद से उनका विभिन्न रूप से निरूपण किया जा सकता है, अतः वे भिन्न भी हैं। "एक ही पुद्गल परमाणु में युगपत् रूप से रूप, रस, गन्ध आदि अनेक गुण रहते हैं। अनुभूति के स्तर पर एक गुण न केवल दूसरे गुण से भिन्न है अपितु उस स्तर पर वह द्रव्य से भी भिन्न कल्पित किया जा सकता है। पुनः गुण अपनी पूर्वपर्याय को छोड़कर उत्तरपर्याय को धारण करता है और इस प्रकार वह परिवर्तित होता रहता है, किन्तु उसमें यह पर्याय परिवर्तन द्रव्य से भिन्न होकर नहीं होता। पर्यायों में होनेवाले परिवर्तनों के बीच जो एक अविच्छिन्नता का नियामक तत्त्व है, वही द्रव्य है। उदाहरण के रूप में एक पुद्गल के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के गुण बदलते रहते हैं और उस गुण परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसकी पर्याय भी बदलती रहती है। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय स्वाभाविकगुण-कृत और वैभाविकगुण-कृत अर्थात् पर्यायकृत उत्पाद और व्यय होते रहते हैं। यह सब उस द्रव्य की सम्पत्ति या स्वरूप है। इसलिए द्रव्य को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मक कहा जाता है। द्रव्य के साथ-साथ उसके गुणों में भी उत्पाद-व्यय होता रहता है। जीव का गुण चेतना है, उसमें पृथक् होने पर जीव जीव नहीं रहेगा, फिर भी जीव की चेतन अनुभूतियाँ स्थिर नहीं रहती हैं, वे प्रति क्षण बदलती रहती हैं, अतः गुणों में भी उत्पाद-व्यय होता रहता है। पुनः वस्तु का स्व-लक्षण कभी बदलता नहीं है अतः गुण में ध्रौव्यत्व पक्ष भी है। अतः गुण भी द्रव्य के समान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण युक्त है।[१]

गुणों के प्रकार :

जैनदर्शन में सत्ता को अनन्त धर्मात्मक (अनन्त गुणात्मक) माना गया है- वस्तु के गुणधर्म दो प्रकार के हैं- भावात्मक गुणधर्म और अभावात्मक गुणधर्म। भावात्मक (विधायक) गुणों या धर्मों की अपेक्षा भी अभावात्मक गुणधर्मों की संख्या तो अनन्त होती है। एक वस्तु को वह वस्तु होने के लिए उसमें अन्य वस्तु और उसके गुणधर्मों का अभाव होना आवश्यक है। एक मनुष्य को 'वह' होने के लिए उसका चराचर विश्व की अनन्त वस्तुओं एवं व्यक्तियों से भिन्न होना अर्थात् उसमें उनका अभाव होना आवश्यक है। स्थूल उदाहरण के लिए 'सागरमल' को सागरमल

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र २८-१३

होने के लिए स्थूल जगत् के ६ अरब व्यक्तियों से, असंख्यात् कीट-पतंगों से लेकर पशुओं से तथा विश्व की अनन्त जड़ वस्तुओं से भिन्न होना आवश्यक है, अर्थात् उनके विशिष्ट गुणधर्मों का अभाव होना भी आवश्यक है। कुछ सामान्य गुणों की अपेक्षा भी विशिष्ट गुणधर्म तो अनेक होते ही हैं। इसी दृष्टि से जैनधर्म में वस्तु को अनन्त-धर्मात्मक कहा गया है, दूसरे व्यक्त गुणों की अपेक्षा से भी अव्यक्त या गौण गुणधर्म कहीं अधिक होते है। एक कच्चे आम्रफल में सफेद और हरे रंग, खट्टे स्वाद रूप व्यक्त गुणों की अपेक्षा भी अव्यक्त गुणों की दृष्टि से पाँचों वर्ण, दोनों गंध, पाँचों स्वाद, आठों स्पर्श आदि भी व्यक्त रूप से रहे हुए हैं। भावात्मक और अभावात्मक तथा व्यक्त और अव्यक्त गुणधर्मों की चर्चा के अतिरिक्त भी अनेक अज्ञात गुणधर्मों की संख्या का निर्धारण तो अति कठिन है। फिर भी सामान्य और विशेष गुणधर्मों की अपेक्षा से जैन ग्रन्थों में षट् द्रव्यों के कुछ विशिष्ट गुणधर्मों की चर्चा भी मिलती है। अस्तित्व ऐसा गुण है, जो सभी द्रव्यों में पाया जाता है। विस्तार नामक गुणधर्म काल, द्रव्य और परमाणु को छोड़कर शेष सभी में पाया जाता है। चेतना नामक गुणधर्म जीवद्रव्य या जीवों में तथा जड़ता नामक गुणधर्म जीव को छोड़कर शेष पाँचों द्रव्यों में पाया जाता है। गति में सहायक होना धर्म-द्रव्य का गुण है और स्थिति में सहायक होना अधर्मद्रव्य का गुण है। काल का सामान्य गुण परिवर्तनशीलता है—परत्व और अपरत्व, अल्पवयस्क-दीर्घवयस्क, (छोटा-बडा) नया-पुराना आदि काल के गुण हैं। उत्तराध्ययन में पुद्गल के विशिष्ट गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है— पाँच वर्ण, पाँच स्वाद, दो गंध, आठ स्पर्श, शब्द, अंधकार, प्रकाश, आतप, छाया आदि पुद्गल के गुण है।

पर्याय :

जैन दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य में घटित होनेवाले विभिन्न परिवर्तन ही पर्याय कहलाते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय एक विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता रहता है। अपने पूर्व क्षण की अवस्था का त्याग करता है और एक नूतन विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता है। इन्हें ही पर्याय कहा जाता है। जिस प्रकार जलती हुई दीपशिखा में प्रतिक्षण जलने वाला तेल बदलता रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य सतत् रूप से परिवर्तन या परिणमन को प्राप्त होता रहता है, दीपक की लौ का तेल और बत्ती प्रतिक्षण बदलती रहती है, फिर भी दीपक यथावत् जलता रहता है। द्रव्य में होने वाला यह परिवर्तन या परिणमन ही उसकी पर्याय है। एक व्यक्ति जन्म लेता है, बालक से किशोर और किशोर से युवक, युवक से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। जन्म से लेकर मृत्यु काल तक प्रत्येक व्यक्ति के देह की शारीरिक संरचना में तथा विचार और अनुभूति की चैतसिक संरचना में परिवर्तन होते रहते हैं। उसमें प्रतिक्षण होनेवाले इन परिवर्तनों के द्वारा वह जो भिन्न-भिन्न अवस्थायें

प्राप्त करता है, वे ही पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि 'पर्याय' जैनदर्शन का विशिष्ट शब्द है। जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय दर्शन में पर्याय की यह अवधारणा अनुपस्थित है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था की यात्रा कोई ऐसी घटना नहीं है, जो एक ही क्षण में घटित हो जाती है। बल्कि यह सब क्रमिक रूप से घटित होती रहती है, हमें उसका पता ही नहीं चलता। यह प्रति समय होनेवाला परिवर्तन ही पर्याय है। पर्याय शब्द का सामान्य अर्थ 'अवस्था' विशेष है।

दार्शनिक जगत् में पर्याय का, जो अर्थ प्रसिद्ध हुआ है, उससे आगम में वह किंचित् भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है। दार्शनिक ग्रन्थों में द्रव्य के क्रमभावी परिणाम को पर्याय कहा गया है तथा सहभावी परिणाम को गुण तथा गुण एवं पर्याय से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहा गया है। वहाँ पर एक ही द्रव्य या वस्तु की विभिन्न पर्यायों की चर्चा है। आगम में पर्याय का निरूपण द्रव्य के क्रमभावी परिणमन के रूप में नहीं हुआ है। आगम में तो एक पदार्थ जितनी अवस्थाओं को प्राप्त होता है, उन्हें उस पदार्थ की पर्याय कहा गया है। यथा जीव की पर्याय हैं— नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच, सिद्ध आदि।

पर्याय द्रव्य की भी होती है और गुण की भी होती है। गुणों की पर्याय का उल्लेख अनुयोगद्वारसूत्र में इस प्रकार हुआ है— "एकगुणकाला, द्विगुणकाला यावत् अनन्तगुणकाला।" काले गुण की अनन्त पर्याय होती हैं। इसी प्रकार नीले, पीले, लाल एवं सफेद वर्णों की पर्याय भी अनन्त होती हैं। वर्ण की भाँति गन्ध, रस, स्पर्श के भेदों की भी एक गुण से लेकर अनन्तगुण तक पर्याय होती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग को पर्याय का लक्षण कहा है[१]। एक पर्याय का दूसरी पर्याय के साथ द्रव्य की दृष्टि से एकत्व (तादात्म्य) होता है, पर्याय की दृष्टि से दोनों पर्याय एक-दूसरे से पृथक होती हैं। संख्या के आधार पर भी पर्यायों में भेद होता है। इसी प्रकार संस्थान अर्थात् आकृति की दृष्टि से भी पर्याय-भेद होता है। जिस पर्याय का संयोग (उत्पाद) होता है, उसका वियोग (विनाश) भी निश्चित रूप से होता है। कोई भी द्रव्य कभी भी पर्याय से रहित नहीं होता। किन्तु पर्याय स्थिर भी नहीं रहती है, वह प्रति समय परिवर्तित होती रहती है। जैन दार्शनिकों ने पर्याय-परिवर्तन की इन घटनाओं को द्रव्य में होने वाले उत्पाद और व्यय के माध्यम से स्पष्ट किया है। द्रव्य में प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का नाश या व्यय तथा उत्तरपर्याय का उत्पाद होता रहता है। उत्पाद और व्यय की घटना जिसके आश्रित या जिसमें घटित होती है या जो परिवर्तित होता है, वही द्रव्य है। जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य एवं पर्याय में कथंचित् तादात्म्य इस अर्थ में है कि पर्याय से रहित होकर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। द्रव्य की पर्याय बदलते रहने पर भी द्रव्य में एक क्षण के लिए भी ऐसा नहीं होता कि वह पर्याय से रहित हो। न तो पर्यायों से पृथक् होकर द्रव्य का अपना अस्तित्व

होता है और न द्रव्य से पृथक् पर्यायें ही होती हैं। सत्तात्मक स्तर पर द्रव्य और पर्याय अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं। वे तत्त्वतः अभिन्न हैं। किन्तु द्रव्य के बने रहने पर भी पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश का क्रम घटित होता रहता है। यदि पर्याय उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है तो उसे द्रव्य से कथंचित् भिन्न भी मानना होगा। जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था व्यक्ति से पृथक् कहीं नहीं देखी जातीं; वे व्यक्ति में ही घटित होती हैं और व्यक्ति से अभिन्न होती हैं किन्तु एक ही व्यक्ति में बाल्यावस्था का विनाश और युवावस्था की प्राप्ति देखी जाती है। अतः अपने विनाश और उत्पत्ति की दृष्टि से वे पर्यायें व्यक्ति से पृथक् भी कही जा सकती हैं। वैचारिक स्तर पर प्रत्येक पर्याय द्रव्य से भिन्नता रखती है। संक्षेप में तात्त्विक स्तर पर या सत्ता की दृष्टि से हम द्रव्य और पर्याय को अलग-अलग नहीं कर सकते, अतः वे अभिन्न हैं, किन्तु, यह अभिन्नता वर्तमान कालिक पर्यायों की हैं, भूत एवं भावी पर्यायों की नही। किन्तु वैचारिक स्तर पर द्रव्य और पर्याय को परस्पर पृथक् माना जा सकता है क्योंकि पर्याय उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं, जब कि द्रव्य बना रहता है; अतः वह द्रव्य से भिन्न भी है। जैन आचार्यों के अनुसार द्रव्य और पर्याय की यह कथंचित् अभिन्नता, कथंचित् भिन्नता वस्तु केअनेकान्तिक स्वरूप की परिचायक है।

वस्तु स्वरूप और पर्याय :

पर्याय की अवधारणा जैनदर्शन की एक विशिष्ट अवधारणा है। जैनदर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। किन्तु अनेकान्त का आधार पर्याय की अवधारणा है। सामान्यतया पर्याय शब्द परि+आयः से निष्पन्न है। मेरी दृष्टि में जो परिवर्तन को प्राप्त होती है, वही पर्याय है। राजवार्तिक के सूत्र (१/३३/१/९५/६) 'परि समन्तादायः पर्यायः', के अनुसार जो सर्व ओर से नवीनता को प्राप्त होती है, वही पर्याय है। यह होना (becoming) है। वह सत्ता की परिवर्तनशीलता की या सत् के बहुआयामी (Multi dimensional) होने की सूचक है। वह यह बताती है कि अस्तित्व प्रति समय परिणमन या परिवर्तन को प्राप्त होता है इसलिए यह भी कहा गया है कि जो स्वभाव या विभाव रूप परिणमन करती है, वही पर्याय है। जैनदर्शन में अस्तित्व या सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक या परिणामी नित्य माना गया है। द्रव्य में उत्पाद-व्यय का जो सतत् प्रवाह है, वही पर्याय है और जो इन परिवर्तनों में स्वस्वभाव से च्युत नहीं होता है, वही द्रव्य है। अन्य शब्दों में कहें तो अस्तित्व में जो अर्थक्रियाकारित्व है, गत्यात्मकता है, परिणामीपना या परिवर्तनशीलता है, वही पर्याय है। *पर्याय अस्तित्व की क्रियाशीलता की सूचक है। वह परिवर्तनों के सातत्य की* अवस्था है। अस्तित्व या द्रव्य दिक् और काल में जिन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है, जैन-दर्शन के अनुसार यही अवस्थाएँ पर्याय हैं अथवा सत्ता का परिवर्तनशील पक्ष पर्याय

है। बुद्ध के इस कथन का कि 'क्रिया है, कर्ता नहीं' का आशय यह नहीं है कि वे किसी क्रियाशीलतत्त्व का निषेध करते हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्ता नहीं है। सत्ता और परिवर्तन में पूर्ण तादात्म्य है। सत्ता से भिन्न परिवर्तन और परिवर्तन से भिन्न सत्ता की स्थिति नहीं है। परिवर्तन और परिवर्तनशील अन्योन्याश्रित हैं, दूसरे शब्दों में वे सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। वस्तुतः बौद्धदर्शन का सत् सम्बन्धी यह दृष्टिकोण जैनदर्शन की पर्याय की अवधारणा से उतना दूर नहीं है, जितना माना गया है। बौद्धदर्शन में सत्ता को अनुच्छेद और अशाश्वत् कहा गया है अर्थात् वे भी न उसे एकान्त अनित्य मानते हैं और न एकान्त नित्य। वह न अनित्य है और न नित्य हैं जब कि जैन दार्शनिकों ने उसे नित्यानित्य कहा है, किन्तु दोनों परम्पराओं का यह अन्तर निषेधात्मक अथवा स्वीकारात्मक भाषा-शैली का अन्तर है। बुद्ध और महावीर के कथन का मूल उत्स एक-दूसरे से उतना भिन्न नहीं है जितना कि हम उसे मान लेते हैं। सत् को अव्यय या अपरिवर्तनशील मानने का एकान्त पक्ष और सत् को परिवर्तनशील या क्षणिक मानने का एकान्त पक्ष जैन और बौद्ध विचारकों को स्वीकार्य नहीं रहा है। दोनों में मात्र अन्तर यह है कि भगवान महावीर ने जहाँ अस्तित्व के उत्पाद-व्यय पक्ष अर्थात् पर्याय पक्ष के साथ-साथ ध्रौव्यपक्ष को भी स्वीकृति प्रदान की है; वहाँ भगवान् बुद्ध ने अस्तित्व के परिवर्तनशील पक्ष पर ही अधिक बल दिया। बौद्धदर्शन की अस्तित्त्व की व्याख्या जैनदर्शन की पर्याय की अवधारणा केअति निकट है। बौद्धों ने पर्याय अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति को ही अस्तित्व मान लिया। बौद्धदर्शन ने परिवर्तनशीलता और अस्तित्त्व में तादात्म्य माना और कहा कि परिवर्तनशीलता ही अस्तित्व है (Becoming is real)। जैन-दर्शन ने भी द्रव्य (Being) और पर्याय (Becoming) अर्थात् 'अस्तित्व' और 'होने' में तादात्म्य तो माना किन्तु, तादात्म्य के साथ-साथ दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार किया अर्थात् उनमें भेदाभेद माना।

सत् के सम्बन्ध में एकान्त परिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण और एकान्त अपरिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण इन दोनों में से किसी एक को अपनाने पर न तो व्यवहार जगत् की व्याख्या सम्भव है न धर्म और नैतिकता का कोई स्थान संभव है। यही कारण था कि आचारमार्गीय परम्परा के प्रतिनिधि भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने उनका परित्याग आवश्यक समझा। भगवान महावीर की विशेषता यह रही कि उन्होंने न केवल एकान्त शाश्वतवाद का और एकान्त उच्छेदवाद का परित्याग किया, अपितु अपनी अनेकान्तवादी और समन्वयवादी परम्परा केअनुसार उन दोनों विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित किया। परम्परागत दृष्टि से यह माना जाता है कि भगवान् महावीर ने केवल 'उपनेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' इस त्रिपदी का उपदेश दिया था। समस्त जैन दार्शनिक वाङ्मय का विकास उसी त्रिपदी केआधार पर हुआ है। परमार्थ या सत् के स्वरूप के

सम्बन्ध में भगवान महावीर का यह उपर्युक्त कथन ही जैनदर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है और यही उसकी पर्याय की अवधारणा का आधार भी है। इसे हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही सत् के लक्षण हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है कि सत् उत्पाद्-व्यय और ध्रौव्यात्मक है (तत्त्वार्थ, ५/२१), उत्पाद और व्यय सत् के परिवर्तनशील पक्ष या पर्याय को बताते हैं, तो ध्रौव्य उसकेअविनाशी पक्ष या द्रव्य को। सत् का ध्रौव्य गुण उसके उत्पत्ति एवं विनाश का या पर्याय परिवर्तन का आधार है, विभिन्न पर्यायों के मध्य योजक कड़ी है। यह सत्य है कि विनाश के लिए उत्पत्ति और उत्पत्ति केलिए विनाश आवश्यक है, किन्तु उत्पत्ति और विनाश दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की आवश्यकता होती है, जिसमें उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रियायें घटित होती हैं। यदि हम द्रव्यरूपी ध्रौव्य पक्ष को अस्वीकार करेंगे तो उत्पत्ति और विनाश रूप पर्यायें परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगी और सत्ता अनेक क्षणिक एवं असम्बन्धित क्षणजीवी तत्त्वों में विभक्त हो जायेगी। इन परस्पर असम्बन्धित क्षणिक सत्ताओं की अवधारणा से व्यक्तित्व की एकात्मकता का ही विच्छेद हो जायेगा, जिसके अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व और कर्मफल व्यवस्था ही अर्थहीन हो जायेगी। इसी प्रकार एकान्त ध्रौव्यता या कूटस्थ नित्य द्रव्य को स्वीकार करने पर भी इस जगत् में चल रहे उत्पत्ति और विनाश रूप पर्याय परिवर्तन के क्रम को समझाया नहीं जा सकता। जैनदर्शन में सत् के अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्य और गुण तथा परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है। अग्रिम पृष्ठों में हम द्रव्य, गुण और पर्याय के सह सम्बन्ध के बारे में चर्चा करेंगे।

द्रव्य और पर्याय का सहसम्बन्ध :

हम यह पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि जैन-परम्परा में सत् और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया है। मात्र यही नहीं, उसमें सत् के स्थान पर द्रव्य ही प्रमुख रहा है। आगमों में सत् के स्थान पर अस्तिकाय और द्रव्य इन दोनों शब्दों का ही प्रयोग देखा गया है। जो अस्तिकाय हैं, वे निश्चय ही द्रव्य हैं। इन दोनों शब्दों में भी द्रव्य शब्द मुख्यतः अन्य परम्पराओं के प्रभाव से जैनदर्शन में आया है, उसका अपना मूल शब्द तो अस्तिकाय ही है। इसमें 'अस्ति' शब्द सत्ता के शाश्वत पक्ष का और काय शब्द अशाश्वत पक्ष का सूचक माना जा सकता है। वैसे सत्ता को काय शब्द से सूचित करने की परम्परा श्रमण-धारा के प्रकुधकात्यायन आदि अन्य दार्शनिकों में भी रही है। भगवतीसूत्र में द्रव्य पक्ष की शाश्वतता और पर्याय पक्ष की अशाश्वतता का चित्रण उपलब्ध होता है; उसमें कहा गया है कि **"दव्वट्ठाए सिय सासया पज्जवट्ठाए सिय असासया"** अर्थात् अस्तित्व को द्रव्य की

अपेक्षा से शाश्वत और पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत (अनित्य) कहा गया है। इस तथ्य को अधिक स्पष्टता पूर्वक चित्रित करते हुए सन्मतितर्क के आचार्य सिद्धसेन दिवाकर लिखते हैं–

उपज्जंति चयंति वा भावा नियमेण पज्जवनयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्न अविणट्ठं ॥ **सन्मतितर्क ५/११**

अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से अस्तित्व या वस्तु उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है। उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में 'सत् द्रव्यलक्षणं' (४/२१) कहकर सत् को द्रव्य का लक्षण बताया है। इस परिभाषा से यह फलित होता है कि द्रव्य का मुख्य लक्षण अस्तित्व है। जो अस्तित्ववान है, वही द्रव्य है। किन्तु यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होता है कि द्रव्य शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ तो 'द्रूयते इति द्रव्य' के आधार पर उत्पाद-व्यय रूप अस्तित्व को ही सिद्ध करता है। इसी आधार पर यह कहा गया है, कि जो त्रिकाल में परिणमन करते हुए भी अपने स्व स्वभाव का पूर्णतः परित्याग न करे उसे ही सत् या द्रव्य कहा है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र (५/२९) में उमास्वाति ने एक ओर द्रव्य का लक्षण सत् बताया तो दूसरी ओर सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा है। साथ ही उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (५/३८) में द्रव्य को परिभाषित करते हुए उसे गुण, पर्याय से युक्त भी कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकायसार और प्रवचनसार में इन्हीं दोनों लक्षणों को मिलाकर द्रव्य को पारिभाषित किया है। पंचास्तिकायसार (१०) में वे कहते हैं द्रव्य सत् लक्षण वाला है। इसी परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार (९५-९६) में वे कहते हैं, जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त तथा गुण-पर्याय सहित है, उसे द्रव्य कहा जाता है। इस प्रकार कुन्दकुन्दने द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में उमास्वाति के सभी लक्षणों को स्वीकार कर लिया है और द्रव्य तथा पर्याय के सहसम्बन्ध और उनकी सापेक्षता को स्पष्ट कर दिया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति की विशेषता यह है कि उन्होंने गुणपर्यायवत् द्रव्य कहकर जैनदर्शन के भेद-अभेदवाद को पुष्ट किया है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य की यह परिभाषा भी वैशेषिकसूत्र के **'द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता'** (१/२/८) नामक सूत्र केनिकट ही सिद्ध होती है। उमास्वाति ने इस सूत्र में कर्म के स्थान पर पर्याय को रख दिया है। जैनदर्शन के सत् सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि द्रव्य या सत्ता परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। इसी तथ्य को मीमांसा दर्शन में भी इस रूप में स्वीकार किया गया है :

वर्द्धमानकभंगे च, रुचकः क्रियते यदा ।
तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥२१॥

हेमार्थिनस्तुमाध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावेसन्मति त्रयम् ॥२२॥

न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विनासुखम् ।
स्थित्याविना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्य नित्यता ॥२३॥

मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ-६१

अर्थात् वर्द्धमानक (बाजूबन्द) को तोड़कर रुचक (हार) बनाने में वर्द्धमानक को चाहनेवाले को शोक, रुचक चाहने वाले को हर्ष और स्वर्ण चाहने वाले को न हर्ष और न शोक होता है। उसका तो माध्यस्थ भाव रहता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु या सत्ता उत्पाद भंग और स्थिति रूप होती है क्योंकि नाश के अभाव में शोक, उत्पाद के अभाव में सुख (हर्ष) और स्थिति के अभाव में माध्यस्थ भाव नहीं हो सकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि मीमांसा दर्शन भी जैनदर्शन के समान ही, वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक मानता है। परिणमन या परिवर्तन (पर्याय) यह द्रव्य का आधारभूत लक्षण है किन्तु इस प्रक्रिया में द्रव्य अपने मूल स्वरूप का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। स्व स्वरूप का परित्याग किये बिना विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने से ही द्रव्य को नित्य कहा जाता है। किन्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य भी कहा जाता है। उसे इस प्रकार भी समझाया जाता है कि मृत्तिका अपने स्व-जातीय धर्म का परित्याग किये बिना घट आदि को उत्पन्न करती है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड पर्याय का विनाश होता है। जब तक पिण्ड पर्याय नष्ट नहीं होती, तब तक घट उत्पन्न नहीं होता; किन्तु इस उत्पाद और व्यय में भी मृत्तिका लक्षण द्रव्य यथावत् बना रहता है। वस्तुतः कोई भी द्रव्य अपने स्व-लक्षण, स्व-स्वभाव अथवा स्व-जातीय धर्म का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। द्रव्य अपने गुण या स्व-लक्षण की अपेक्षा से नित्य होता है, क्योंकि स्व-लक्षण का त्याग सम्भव नहीं है। अतः यह स्व-लक्षण ही वस्तु का नित्य पक्ष होता है, उसे ही द्रव्य कहते हैं। स्व-लक्षण का त्याग किये बिना वस्तु जिन विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती है, वे पर्याय कहलाती हैं। ये परिवर्तनशील पर्यायें ही द्रव्य का अनित्य पक्ष है; अतः द्रव्य और पर्याय अन्योन्याश्रित हैं।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य अपने स्व-लक्षण या गुण की अपेक्षा से नित्य और अपनी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा जाता है। उदाहरण के रूप में जीव द्रव्य अपने चैतन्य गुण का कभी परित्याग नहीं करता, किन्तु अपने चेतना लक्षण का परित्याग किये बिना वह देव, मनुष्य, पशु इन विभिन्न योनियों को अथवा बालक, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है इसे हम पूर्व में भी कह चुके हैं। जिन गुणों का परित्याग नहीं किया जा सकता है, वे ही गुण

स्वलक्षण कहे जाते हैं। यह स्वलक्षण ही द्रव्य स्वरूप है। जिन गुणों का परित्याग किया जा सकता है, वे द्रव्य या गुण की पर्यायें भी दो प्रकार की कही गयी हैं— १. स्वभाव पर्याय और २. विभाव पर्याय/जो पर्याय या अवस्थायें स्व-लक्षण के निमित्त से होती है, वे स्वभाव पर्याय कहलाती हैं और जो अन्य निमित्त से होती हैं, वे विभाव पर्याय कहलाती हैं। उदाहरण के रूप में ज्ञान और दर्शन (प्रत्यक्षीकरण) सम्बन्धी विभिन्न अनुभूतिपरक अवस्थायें आत्मा की स्वभाव पर्याय हैं। क्योंकि वे आत्मा के स्व-लक्षण उपयोग से फलित होती हैं, जब कि क्रोध आदि कषाय भाव कर्म के निमित्त से या दूसरों के निमित्त से होती हैं, अतः वे विभाव पर्याय हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि इन गुणों और पर्यायों का अधिष्ठान या उपादान तो द्रव्य स्वयं ही है। द्रव्य, गुण और पर्यायों से अभिन्न है, अतः द्रव्य, गुण और पर्याय— तीनों परस्पर सापेक्ष हैं।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्कप्रकरण में स्पष्ट रूप से कहा है, द्रव्य से रहित गुण और पर्याय की सत्ता नहीं है। साथ ही गुण और पर्याय से रहित द्रव्य की भी सत्ता नहीं है।

दव्वे पज्जव विउअं दव्व विउत्ता पज्जवा नत्थि ।
उप्पादट्ठिइ भंगा हदि दविय लक्खणं एयं ॥ —सन्मतितर्क १२

अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय में तादात्म्य है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि द्रव्य, गुण और पर्याय की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह सत्य है कि अस्तित्त्व की अपेक्षा से उनमें तादात्म्य है किन्तु विचार की अपेक्षा से वे पृथक्-पृथक् हैं। हम उन्हें अलग-अलग कर नहीं सकते, किन्तु उन पर अलग-अलग विचार सम्भव है। बाल्यावस्था, युवावस्था या बुढ़ापा व्यक्ति से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते हैं— फिर भी ये तीनों अवस्थाएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। यही स्थिति द्रव्य, गुण और पर्याय की है।

गुण और पर्याय का सहसम्बन्ध :

द्रव्य को गुण और पर्यायों का आधार माना गया है। वस्तुतः गुण द्रव्य के स्वभाव या स्व-लक्षण होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'(५/४०) कहकर यह बताया है कि गुण द्रव्य में रहते हैं, पर वे स्वयं निर्गुण होते हैं। गुण निर्गुण होते हैं यह परिभाषा सामान्यतया आत्म-विरोधी सी लगती किन्तु इस परिभाषा की मूलभूत दृष्टि यह है कि यदि हम गुण का भी गुण मानेंगे तो फिर अनवस्था दोष का प्रसंग आयेगा, यह बात पूर्व में भी स्पष्ट कर चुके हैं। आगमिक दृष्टि से गुण की परिभाषा इस रूप में की गयी है कि गुण द्रव्य का विधान है यानि उसका स्व-लक्षण है जब कि पर्याय द्रव्य का विकार है। गुण भी द्रव्य के समान ही अविनाशी है। जिस द्रव्य का जो गुण है वह उसमें सदैव रहता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य का जो अविनाशी

लक्षण है अथवा द्रव्य जिसका परित्याग नहीं कर सकता है, वही गुण है। गुण वस्तु की सहभावी अवस्थाओं या पर्यायों का सूचक है। फिर भी गुण की ये अवस्थायें अर्थात् गुण-पर्यायें बदलती रहती हैं। द्रव्य के समान गुणों की पर्यायें भी होती हैं, जो गुण की भी परिवर्तनशीलता को सूचित करती हैं। जीव में चेतना की अवस्थाएँ रूपी पर्यायें बदलती हैं, फिर भी चेतना गुण बना रहता है।

वे विशेषताएँ या लक्षण जिनके आधार पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अलग किया जा सकता है वे विशिष्ट गुण कहे जाते हैं। उदाहरण के रूप में धर्म-द्रव्य का लक्षण गति में सहायक होना है। अधर्म-द्रव्य का लक्षण स्थिति में सहायक होना है। जो सभी द्रव्यों का अवगाहन करता है, उन्हें स्थान देता है, वह आकाश कहा जाता है। इसी प्रकार परिवर्तन काल का और उपयोग जीव का लक्षण है। अतः गुण वे हैं जिनके आधार पर हम किसी द्रव्य को पहचानते हैं और उसका अन्य द्रव्य से पृथक्त्व स्थापित करते हैं। उत्तराध्ययन (२८/११-१२) में जीव और पुद्गल के अनेक लक्षणों का भी चित्रण हुआ है। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, एवं उपयोग ये जीव के लक्षण बताये गये हैं और शब्द, प्रकाश, अंधकार, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि को पुद्गल का लक्षण कहा गया है। लेकिन अस्तित्व की दृष्टि से इन गुणों की पृथक्-पृथक् सताएँ नहीं है। गुणों केसन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुछ गुण सामान्य होते हैं और वे सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं और चेतना आदि कुछ गुण विशिष्ट होते हैं। चेतना गुण केवल जीव द्रव्य में पाया जाता हैं, अजीव द्रव्य में उसका अभाव होता है। दूसरे शब्दों में कुछ गुण सामान्य और कुछ गुण विशिष्ट होते हैं। सामान्य गुणों के आधार पर जाति या वर्ग की पहचान होती है। वे द्रव्य या वस्तुओं का एकत्व प्रतिपादित करते हैं, जब कि विशिष्ट गुण का एक द्रव्य का दूसरे से अन्तर स्थापित करते हैं। गुणों के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अनेक गुण सहभावी रूप से एक ही द्रव्य में रहते हैं। इसीलिए जैनदर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है। इन विशेष गुणों की एक अन्य विशेषता यह भी है कि वे द्रव्य विशेष की विभिन्न पर्यायों में भी बने रहते हैं। जीवों की चेतना पर्याय बदलती रहती है, फिर भी परिवर्तनशील चेतना पर्यायों में चेतना गुण और जीव द्रव्य बना रहता है।

कोई भी द्रव्य गुण, एवं पर्याय से रहित नहीं होता। द्रव्य, गुण और पर्याय का विभाजन मात्र वैचारिक स्तर पर किया जाता है, सत्ता के स्तर पर नहीं। पर्याय से रहित होकर न तो द्रव्य की कोई सत्ता होती है और न द्रव्य से रहित पर्याय की। अतः सत्ता के स्तर पर पर्याय और द्रव्य में अभेद है, जब कि वैचारिक स्तर पर दोनों में भेद किया जा सकता है।

पर्याय के प्रकार :

(क) जीव पर्याय और अजीव पर्याय :

पर्यायों के प्रकारों की आगमिक आधारों पर चर्चा करते हुए द्रव्यानुयोग (पृ. ३८) में उपाध्याय श्री कन्हैयालाल जी म. सा. 'कमल' लिखते हैं कि प्रज्ञापनासूत्र में पर्याय के दो भेद प्रतिपादित हैं— १. जीव पर्याय और २. अजीव पर्याय। ये दोनों प्रकार की पर्यायें अनन्त होती हैं। जीव पर्याय किस प्रकार अनन्त होती है, इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि नैरयिक, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रेन्द्रिय, चतुरेन्द्रय, तिर्यंचयोनिक और मनुष्य से सभी जीव असंख्यात् हैं, किन्तु वनस्पतिकायिक और सिद्ध जीव तो अनन्त हैं, इसलिए जीव पर्यायें अनन्त हैं। इसी प्रकार अजीव पुद्गल आदि रूप हैं, पुनः पुद्गल स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप होता है, साथ ही उसमें वर्ण, गन्ध, रूप और स्पर्श गुण होते हैं, फिर इनके भी अनेक अवान्तर भेद होते हैं, साथ ही प्रत्येक गुण के भी अनेक अंश (Degrees) होते हैं, अतः इन विभिन्न अंशों और उनके विभिन्न संयोगों की अपेक्षा से पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों की भी अनन्त पर्यायें होती हैं। जिनका विस्तृत विवेचन प्रज्ञानपासूत्र के पर्याय पद में किया गया है।

(ख) अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय :

पुनः पर्याय दो प्रकार की होती हैं— १. अर्थपर्याय और २. व्यंजनपर्याय। एक ही पदार्थ की प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाली क्रमभावी पर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं तथा पदार्थ की, उसके विभिन्न प्रकारों एवं भेदों में जो पर्याय होती है उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। अर्थपर्याय सूक्ष्म एवं व्यंजनपर्याय स्थूल होती है। ज्ञातव्य है कि धवला (४/१/५०४/३३७/६) में द्रव्यपर्याय को ही व्यंजनपर्याय कहा गया है और गुणपर्याय को ही अर्थपर्याय भी कहा गया है। द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि व्यंजनपर्याय ही द्रव्यपर्याय और अर्थपर्याय ही गुणपर्याय है, तो फिर इन्हें पृथक्-पृथक् क्यों बताया गया है; इसका उत्तर यह है कि प्रवाह की अपेक्षा से व्यंजनपर्याय चिरकालिक होती है, जैसे जीव की चेतनपर्याय सदैव बनी रहती है चाहे चेतन अवस्थाएँ बदलती रहें, इसके विपरीत अर्थपर्याय गुणों और उनके अनेक अंशों की अपेक्षा से प्रति समय बदलती रहती है। व्यंजनपर्याय सामान्य है, जैसे जीवों की चेतना पर्यायें, जो सभी जीवों में और सभी कालों में पाई जाती हैं। वे द्रव्य की सहभावी पर्यायें हैं और अर्थपर्याय विशेष हैं जैसे किसी व्यक्ति विशेष की काल विशेष में होने वाली क्रोध आदि की क्रमिक अवस्थाएँ, अतः अर्थपर्याय क्रमभावी हैं, वे क्रमिक रूप से काल-क्रम में घटित होती रहती हैं अतः कालकृत भेद के आधार पर उन्हें द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय से पृथक् कहा गया है।

(ग) ऊर्ध्वपर्याय और तिर्यक्पर्याय :

पर्याय को ऊर्ध्व पर्याय एवं तिर्यक् पर्याय के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे भूत, भविष्य और वर्तमान केअनेक मनुष्यों की अपेक्षा से मनुष्यों की जो अनन्त पर्यायें होती हैं वे

तिर्यक् पर्याय कही जाती हैं। जब कि एक ही मनुष्य के त्रिकाल में प्रतिक्षण होने वाले पर्याय परिणमन को ऊर्ध्व पर्याय कहा जाता है। तिर्यक् अभेद में भेद ग्राही है और ऊर्ध्व पर्याय भेद में अभेदग्राही है। यद्यपि पर्याय दृष्टि भेदग्राही ही होती है, फिर भी अपेक्षा भेद से या उपचार से यह कहा गया है। दूसरे रूप में तिर्यक् पर्याय द्रव्य-सामान्य के दिक् गत भेद का ग्रहण करती है और ऊर्ध्व पर्याय द्रव्य-विशेष के कालगत भेदों को।

(घ) स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय :

द्रव्य में अपने निज स्वभाव की जो पर्याय उत्पन्न होती हैं, वे स्वभाव पर्याय कही जाती हैं और पर के निमित्त से जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे विभाव पर्याय होती हैं। जैसे कर्म के निमित्त से आत्मा के जो क्रोधादि कषाय रूप परिणमन हैं, वे विभाव पर्याय हैं और आत्मा या केवली का ज्ञाता-दृष्टा भाव स्वभाव पर्याय है। जीवित शरीर पुद्गल की विभाव पर्याय है और वर्ण, गन्ध आदि पुद्गल की स्वभाव पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल की विभाव पर्याय नहीं है क्योंकि ये स्वभावतः निष्क्रिय द्रव्य हैं। घटाकाश, मठाकाश आदि को उपचार से आकाश की विभाव पर्याय कहा जा सकता है, किन्तु यथार्थ से नहीं, क्योंकि आकाश अखण्डद्रव्य है, उसमें भेद उपचार से माने जा सकते हैं।

(ङ) सजातीय और विजातीय द्रव्य पर्याय :

सजातीय द्रव्यों के परस्पर मिलने से जो पर्याय उत्पन्न होती हैं, वे सजातीय द्रव्य पर्याय हैं जैसे समान वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि-आदि से बना स्कन्ध। इससे भिन्न विजातीय पर्याय हैं।

(च) कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय :

स्वभाव पर्याय के अन्तर्गत दो प्रकार की पर्यायें होती हैं कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय। पर्यायों में परस्पर कारण-कार्य भाव होता है। जो स्वभाव पर्याय कारण रूप होती हैं, वे कारण शुद्ध पर्याय हैं और जो स्वभाव पर्याय कार्य रूप होती हैं वे कार्य शुद्ध पर्याय हैं, किन्तु यह कथन सापेक्ष रूप में समझना चाहिए, क्योंकि जो पर्याय किसी का कारण है, वही दूसरी का कार्य भी हो सकती है। इसी क्रम में विभाव पर्यायों को भी कार्य अशुद्ध पर्याय या कारण-अशुद्ध-पर्याय भी माना जा सकता है।

(छ) सहभावी पर्याय और क्रमभावी पर्याय :

जब किसी द्रव्य में या गुण में अनेक पर्यायें एक साथ होती हैं, तो वे सहभावी पर्याय कही जाती हैं, जैसे पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गन्ध, रस आदि रूप पर्यायों का एक साथ होना। काल की

अपेक्षा से जिन पर्यायों में क्रम पाया जाता है वे क्रम भावी पर्याय हैं। जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था।

(ज) सामान्य पर्याय और विशेष पर्याय :

वैसे तो सभी पर्यायें विशेष ही हैं किन्तु अनेक द्रव्यों की जो समरूप पर्यायें हैं, उन्हें सामान्य पर्याय भी कहा जा सकता है, जैसे अनेक जीवों का मनुष्य पर्याय में होना।

ज्ञातव्य है कि पर्यायों में न केवल मात्रात्मक अर्थात् संख्या और अंशों (Degrees) की अपेक्षा से भेद होता है, अपितु गुणों की अपेक्षा से भी भेद होते हैं। मात्रा की अपेक्षा से एक अंश काला, दो अंश काला, अनन्त अंश काला आदि भेद होते हैं जब कि गुणात्मक दृष्टि से काला, लाल, श्वेत आदि अथवा खट्टा मीठा आदि अथवा मनुष्य, पशु, नारक, देवता आदि भेद होते हैं।

गुण और पर्याय की वास्तविकता का प्रश्न :

जो दार्शनिक सत्ता और गुण में अभिन्नता या तादात्म्य के प्रतिपादक हैं और जो परम सत्ता को तत्त्वतः अद्वैत मानते हैं, वे गुण और पर्याय को वास्तविक नहीं, अपितु प्रतिभासिक मानते हैं। उनका कहना है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आदि गुणों की परम सत्ता से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है; ये मात्र प्रतीतियाँ हैं। अनुभव के स्तर पर जिनका उत्पाद या व्यय है अर्थात् जो परिवर्तनशील है, वह सत् नहीं है, मात्र प्रतिभास है। उनके अनुसार परमाणु भी एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रूपादि विभिन्न गुणों की प्रतीति कराता है, किन्तु वस्तुतः उसमें इन गुणों की कोई सत्ता नहीं होती है। इन दार्शनिकों की मान्यता यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति हमारे मन पर निर्भर करती है। अतः वे वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मनोविकल्प ही हैं। उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि हमारी इन्द्रियों की संरचना भिन्न प्रकार की होती है तो उनसे हमें जो संवेदना होती वह भी भिन्न प्रकार की होती। यदि संसार के सभी प्राणियों की आँखों की संरचना में रंग-अन्धता होती तो वे संसार की सभी वस्तुओं को केवल श्वेत-श्याम रूप में ही देखते और उन्हें अन्य रंगों का कोई बोध नहीं होता। लालादि रंगों के अस्तित्व का विचार ही नहीं होता। जिस प्रकार इन्द्रधनुष के रंग मात्र प्रतीति हैं, वास्तविक नहीं, अथवा जिस प्रकार हमारे स्वप्न की वस्तुएँ मात्र मनोकल्पनाएँ हैं, उसी प्रकार गुण और पर्याय भी मात्र प्रतिभास हैं। चित्त-विकल्प हैं, वास्तविक नहीं हैं।

किन्तु जैन दार्शनिक अन्य वस्तुवादी दार्शनिकों (Realist) के समान द्रव्य के साथ-साथ

गुण और पर्याय को भी यथार्थ/वास्तविक मानते हैं। उनकेअनुसार प्रतीति और प्रत्यय यथार्थ के ही होते हैं, जो अयथार्थ हो उसका कोई प्रत्यय (Idea) या प्रतीति ही नहीं हो सकती है। आकाश-कुसुम या परी आदि की अयथार्थ कल्पनाएँ भी दो यथार्थ अनुभूतियों का चैत्तसिक स्तर पर किया गया मिश्रण मात्र है। स्वप्न भी यथार्थ अनुभूतियों और उनके चैतसिक स्तर पर किये गये मिश्रणों से ही निर्मित होते हैं, जन्मान्ध को कभी रंगों के कोई स्वप्न नहीं होते हैं। अतः अयथार्थ की कोई प्रतीति नहीं हो सकती है। जैनों के अनुसार अनुभूति का प्रत्येक विषय अपनी वास्तविक सत्ता रखता है। इससे न केवल द्रव्य, अपितु गुण और पर्याय भी वास्तविक (Real) सिद्ध होते हैं। द्रव्य, गुण एवं पर्याय की सत्ता की इस वास्तविकता के कारण ही प्राचीन जैन आचार्यों ने सत्ता को अस्तिकाय कहा था। अतः उत्पाद-व्यय धर्मा होकर भी पर्यायें प्रतिभास न होकर वास्तविक हैं।

क्रमबद्ध पर्याय :

पर्यायों के सम्बन्ध में जो एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न इन दिनों बहुचर्चित है, वह है पर्यायों की क्रमबद्धता। यह तो सर्वमान्य है कि पर्यायें सहभावी और क्रमभावी होती हैं, किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं, यह विवाद का विषय है। पर्यायें क्रम से घटित होती हैं, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि पर्यायों के होने का यह क्रम भी पूर्व नियत है, तो फिर पुरुषार्थ के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। पर्यायों को क्रमबद्ध मानने का मुख्य आधार जैनदर्शन में प्रचलित सर्वज्ञता की अवधारणा है। जब एक बार यह मान लिया जाता है कि सर्वज्ञ या केवली सभी द्रव्यों की सर्व पर्यायों को जानता है, तो इसका अर्थ है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में सभी द्रव्यों की सर्व पर्यायें क्रमबद्ध और नियत हैं, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है अर्थात् भवितव्यता को पुरुषार्थ के माध्यम से बदलने की संभावना नहीं है। जिसका जैसा पर्याय परिणमन होना है, वह वैसा ही होगा। इस अवधारणा का एक अच्छा पक्ष यह है कि इसे मान लेने पर व्यक्ति भूत और भावी के सम्बन्ध में व्यर्थ के संकल्प-विकल्प से मुक्त रह कर समभाव में रह सकता है; दूसरे उसमें कर्तृव्य का मिथ्या अहंकार भी नहीं होता है। किन्तु इसका दुर्बल पक्ष यह है कि इसमें पुरुषार्थ के लिएं अवकाश नहीं रहता है और व्यक्ति के पास अपने भविष्य को संवारने हेतु प्रयत्नों का अवकाश भी नहीं रह जाता है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद की समर्थक है, अतः इसमें नैतिक उत्तरदायित्व भी समाप्त हो जाता है। यदि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से कुछ भी अन्यथा नहीं कर सकता है, तो उसे किसी भी अच्छे-बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता।

यद्यपि इस सिद्धान्त के समर्थक जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय के सिद्धान्त केआधार पर पुरुषार्थ की संभावना से इनकार नहीं करते हैं। किन्तु यदि उनके अनुसार पुरुषार्थ भी नियत है और

व्यक्ति संकल्प स्वातन्त्र्य केआधार पर अन्यथा कुछ करने में समर्थ नहीं हैं, तो उसे पुरुषार्थ कहना भी उचित नहीं है और यदि पुरुषार्थ नियत है तो फिर वह नियति से भिन्न नहीं है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा में व्यक्ति नियति का दास बनकर रह जाता है। चाहे पंचकारणसमवाय केआधार पर कार्य में पुरुषार्थ आदि अन्य कारण घटकों की सत्ता मान भी ली जाये तो भी वे नियत ही होगें अतः क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद से भिन्न नहीं होगी। नियतिवाद व्यक्ति को संकल्प-विकल्प से और कर्तृत्व केअहंकार से दूर रखकर चित्त समाधि तो देता है, किन्तु उसमें नैतिक उत्तरदायित्व और साधनात्मक पुरुषार्थ केलिए कोई गुंजाइश नहीं है।

यदि क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा वाले पक्ष की ओर से यह कहा जाये कि जो असर्वज्ञ है, वह अपने भावी को नहीं जानता है अतः उसे पुरुषार्थ करना चाहिए। किन्तु इस कथन को एक सुझाव मात्र कहा जाता है, इसके पीछे सैद्धान्तिक बल नहीं है। यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में मेरी समस्त भावी पर्यायें नियत हैं, तो फिर पुरुषार्थ करने का क्या अर्थ रह जाता है और जैसा कि पूर्व में कहा गया है यदि पुरुषार्थ की पर्यायें भी नियत हैं तो फिर उसके लिए प्रेरणा का क्या अर्थ है ?

क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा के पक्ष में सर्वज्ञता की अवधारणा के अतिरिक्त एक अन्य तर्क कार्य-कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की कठोर व्याख्या केआधार पर भी दिया जाता है। यदि कार्य-कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त को अपने कठोर अर्थ में लिया जाता है तो फिर इस व्यवस्था के अधीन भी सभी पर्यायें नियत ही सिद्ध होंगी। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सर्वज्ञता का जो अर्थ परवर्ती जैन आचार्यों ने लिया है, उसका ऐसा अर्थ प्राचीन काल में नहीं था। उस समय सर्वज्ञ का अर्थ धर्मज्ञ था या अधिक से अधिक तात्कालिक सभी दार्शनिक मान्यताओं का ज्ञान था। भगवतीसूत्र की यह अवधारणा कि "केवली सिय जाणई सिय ण जाणई" से भी सर्वज्ञता का यह अर्थ कि सर्वज्ञ सभी द्रव्यों की त्रैकालिक पर्यायों को जानता है, खण्डित हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट कहा है कि निश्चय नय से सर्वज्ञ आत्मज्ञ होता है, सर्वज्ञ सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को जानता है, यह मात्र व्यवहार कथन है और व्यवहार अभूतार्थ है। इस सम्बन्ध में पं. सुखलालजी, डॉ. नगीन जे. शाह और मैंने विस्तार से चर्चा की है, यहाँ उस चर्चा को दोहराना आवश्यक नहीं है। पुनः जैन कर्म सिद्धान्त में कर्मविपाक में उदीरणा, संक्रमण, अपवर्तन और उद्वर्तन आदि की जो अवधारणाएँ हैं, वे कर्म व्यवस्था में पुरुषार्थ की संभावनाएँ स्पष्ट कर देती हैं। पुनः यदि महावीर को क्रमबद्धपर्याय की अवधारणा मान्य होती तो फिर गोशालक के नियतिवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की स्थापना वे क्यों करते ? जहाँ तक मेरी जानकारी है न तो भगवती, प्रज्ञापना आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में और न षट्खण्डागम, कसायपाहुड आदि दिगम्बर

आगामों में तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में कहीं क्रमबद्ध पर्याय की स्पष्ट अवधारणा है। फिर भी क्रमबद्ध पर्याय के सम्बन्ध में डॉ. हुकमचंद्र जी भारिल्ल का जो ग्रन्थ है वह दर्शन जगत् में इस विषय पर लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में मतवैभिन्य अपनी जगह है, किन्तु पर्यायों की क्रमबद्धता के समर्थन में सर्वज्ञता को आधार मान कर दी गई उनकी युक्तियाँ अपना महत्त्व रखती हैं। विस्तार भय से इस सम्बन्ध में गहन चर्चा में न जाकर अपने वक्तव्य को यहीं विराम देना चाहूँगा और विद्वानों से अपेक्षा करुँगा कि पर्याय के सम्बन्ध में उठाये गये इन प्रश्नों पर जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में अपना चिन्तन प्रस्तुत करें।

क्रमबद्ध पर्याय का यदि हम यह अर्थ लेते हैं कि पर्याय क्रम से घटित होती रहती हैं अर्थात् एक पर्याय के पश्चात् दूसरी पर्याय होती है तो उससे किसी का विरोध नहीं है, किन्तु वे क्रमबद्ध पर्याय पूर्व नियत हैं, ऐसा मानें तो उसका भगवान महावीर के पुरुषार्थवाद, जैन कर्म सिद्धान्त या परवर्ती आचार्यों के पंचकारण समवाय केसिद्धान्त से विरोध होता है; अतः क्रमबद्ध पर्यायों की पूर्व नियतता मान्य नहीं हो सकती है।

जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य की संयोग-वियोग जन्य पर्यायें और नवतत्त्व :

द्रव्य, गुण और पर्याय के सहसम्बन्ध की इस चर्चा में नव या सात तत्त्वों के विवेचन को छोड़ा नहीं जा सकता है, क्योंकि षट्द्रव्यों में जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य के पारस्परिक संयोग-वियोग रूप पर्यायों की इस चर्चा में सप्त या नव तत्त्वों की चर्चा करना आवश्यक है। सात या नौ तत्त्वों में मुख्य द्रव्य दो हैं—जीव और पुद्गल; शेष सब इन दो द्रव्यों के संयोग-वियोग रूप पर्यायें हैं। पुद्गल द्रव्य के पाँचवें विभाग केअन्तर्गत कार्मणवर्गणा रूप सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य के समूह का आत्मा की ओर आगमन या आकर्षित होने को ही **आश्रव** कहा जाता है और उसका जीवद्रव्य के साथ संयोग हो जाने को **बन्ध** कहते हैं। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य का आत्मा की ओर आकर्षण (आना) रुक जाना **संवर** और जीवद्रव्य तथा पुद्गल का पृथक्-पृथक् हो जाना **निर्जरा** है। फिर आत्मा की पुद्गल द्रव्य के पूर्ण वियोग रूप शुद्धावस्था को **मोक्ष** कहते हैं—जीव और पुद्गल (अजीव) ये दो ही तत्त्व मूल हैं उनमें आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन पाँच तत्त्वों को मिलाने पर कुल सात तत्त्व होते हैं। पुनः शुभ केआश्रव, बन्ध और विपाक को **पुण्य तत्त्व** और अशुभ केआश्रव, बन्ध और विपाक को **पाप तत्त्व** कहते हैं इस प्रकार जीव, अजीव, आश्रव, पुण्य-पाप, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष— ये नव तत्त्व होते हैं। इनमें जीव और पुद्गल (अजीव) को छोड़कर शेष सभी उनके संयोग-वियोग रूप पर्यायें हैं— पर्याय की इस चर्चा में सप्त या नव तत्त्वों की यह चर्चा भी समाहित हो जाती है। न केवल सप्त या नौ तत्त्वों की यह अवधारणा ही

पर्याय की अवधारणा पर आधारित है, अपितु जैन कर्म-सिद्धान्त और छह लेश्या की अवधारणा भी पर्याय की अवधारणा पर अवलम्बित है। इसी प्रकार गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान, षट्जीव निकाय, शरीर, इन्द्रियाँ और मन भी जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य के संयोग-वियोग पर ही आधारित हैं। अतः इन सभी के द्रव्य एवं भाव ऐसे दो पक्ष होते हैं। वस्तुतः ये सभी आत्म-द्रव्य की पुद्गल के साथ संयोग या वियोग जन्य पर्यायें ही हैं। अधिक क्या कहें बन्धन और मुक्ति भी आत्म पर्यायें ही हैं। द्रव्यगुण और पर्याय की इस चर्चा में इन सभी पक्षों की चर्चा को विस्तारभय के कारण समाहित कर पाना सम्भव नहीं है। अतः इसे यहीं विराम देना उचित होगा।

आगे इन सभी अवधारणाओं का जैनदर्शन में किस क्रम से विकास हुआ इसकी चर्चा कर इस आलेख को विराम देगें।

जैन तत्त्वमीमांसा की ऐतिहासिक विकासयात्रा :

द्रव्य, गुण और पर्याय की अवधारणा एक तत्त्वमीमांसीय अवधारणा हैं; अतः यहाँ जैन तत्त्वमीमांसा के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझ लेना भी आवश्यक है।

जैनधर्म मूलतः आचार प्रधान है, उसमें तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं का विकास भी आचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है। उसकी तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं में मुख्यतः पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य और सप्त तत्त्वों की अवधारणा प्रमुख हैं। परम्परा की दृष्टि से तो ये सभी अवधारणायें अपने मूल रूप में सर्वज्ञ प्रणीत और सार्वकालिक मानी गई हैं, किन्तु साहित्यिक साक्ष्यों की दृष्टि से विद्वानों ने इनका विकास भी कालक्रम में माना है।

अस्तिकाय की अवधारणा :

विश्व के मूलभूत घटकों के रूप में पंचास्तिकायों की अवधारणा जैनदर्शन की अपनी मौलिक विचारणा है, पंचास्तिकायों का उल्लेख आचारांग में तो अनुपलब्ध है, किन्तु ऋषिभाषित ई. पू. आठवीं सदी के पार्श्व के अध्ययन में पार्श्व की मान्यताओं के रूप में पंचास्तिकाय का वर्णन है। इससे फलित होता है कि यह अवधारणा कम से कम पार्श्वकालीन (ई.पू. आठवीं शती) तो है ही। भगवान महावीर की परम्परा में भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम हमें इसका उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन में अस्तिकाय का तात्पर्य विस्तारयुक्त-अस्तिवान द्रव्य से है। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल को अस्तिकाय माना गया है। ई. सन् की तीसरी शती से दसवीं शती के मध्य इस अवधारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता है, मात्र षड्द्रव्यों की अवधारणा के विकास के साथ-साथ काल को अनास्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इतना स्पष्ट है कि ई. सन् की तीसरी-चौथी

शती तक अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पूर्व यह विवाद प्रारम्भ हो गया था कि काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाये या नहीं। विशेषावश्यकभाष्य के काल तक अर्थात् ईसा की सातवीं शती तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करने के सम्बन्ध में मतभेद था। कुछ जैन दार्शनिक काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते थे और कुछ उसे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे, किन्तु बाद में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में अस्तिकाय और षट्द्रव्यों की अवधारणाओं का समन्वय करते हुए काल को अनास्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार कर लिया गया।

यह स्पष्ट है कि अस्तिकाय की अवधारणा जैनों की मौलिक अवधारणा है। किसी अन्य दर्शन में इसकी उपस्थिति के संकेत नहीं मिलते। मेरी दृष्टि में प्राचीन काल में अस्तिकाय का तात्पर्य मात्र अस्तित्व रखने वाली सत्ता था, किन्तु आगे चलकर जब अस्तिकाय और अनास्तिकाय ऐसे दो प्रकार के द्रव्य माने गये तो अस्तिकाय का तात्पर्य आकाश में विस्तार युक्त द्रव्य से माना गया। पारम्परिक भाषा में अस्तिकाय को बहुप्रदेशी द्रव्य भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य आकाश क्षेत्र में विस्तरित है, वही 'अस्तिकाय' है।

पंचास्तिकाय :

जैनदर्शन में वर्तमान काल में जो षड्द्रव्य की अवधारणा है, उसका विकास इसी पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। पंचास्तिकाय में काल को जोड़कर लगभग प्रथम-द्वितीय शती में षड्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई है। जहाँ तक पंचास्तिकाय की अवधारणा का प्रश्न है, वह निश्चित ही प्राचीन है, क्योंकि उसका प्राचीनतम उल्लेख हमें 'इसिभासियाई' के पार्श्व नामक अध्ययन में मिलता है। ऋषिभाषित की प्राचीनता निर्विवाद है। पं. दलसुखभाई का यह कथन है कि 'पंचास्तिकाय की अवधारणा परवर्ती काल में बनी हैं— इतना ही सत्य है कि भगवान महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के रचनाकाल तक इस अवधारणा का उल्लेख नहीं है, क्योंकि मूल में यह अवधारणा पार्श्वापत्यों की थी। जब पार्श्व के अनुयायियों को भगवान महावीर के संघ में समाहित कर लिया गया, तो उसके साथ ही पार्श्व की अनेक मान्यताएँ भी भगवान महावीर की परम्परा में स्वीकृत की गयीं। इसी क्रम में यह अवधारणा महावीर की परम्परा में स्पष्ट रूप से मान्य हुई।

भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम यह कहा गया कि लोक—धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल रूप है। ऋषिभासित में तो मात्र पाँच अस्तिकाय हैं— इतना ही निर्देश है, उनके नामों का भी उल्लेख नहीं है। चाहे ऋषिभाषित के काल में पंचास्तिकाय के नाम निर्धारित हो भी चुके हों, किन्तु फिर भी उनके स्वरूप के विषय में वहाँ कोई भी सूचना नहीं मिलती है। यह भी स्पष्ट है कि धर्म-अधर्म आदि पंच अस्तिकायों का जो अर्थ आज है, वह कालक्रम में विकसित हुआ है। भगवतीसूत्र

में ही हमें ऐसे दो सन्दर्भ मिलते हैं जिनमें यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में धर्म-अस्तिकाय और अधर्म-अस्तिकाय का अर्थ गति और स्थिति में सहायक द्रव्य नहीं था। भगवतीसूत्र के ही बीसवें शतक में धर्मास्तिकाय के जो पर्यायवाची दिये गये हैं, उनमें अट्ठारह पापस्थानों से विरति, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के पालन को ही धर्मास्तिकाय कहा गया है। इसी प्रकार प्राचीनकाल में अठारह पापस्थानों के सेवन को तथा पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का परिपालन नहीं करने को ही अधर्मास्तिकाय कहा जाता था। इस काल तक धर्म और अधर्म को अस्तिकाय मानने का अर्थ धर्म और अधर्म की सत्ता को स्वीकार करना था।

इसी क्रम में भगवतीसूत्र के सोलहवें शतक में भी यह प्रश्न उठाया गया कि लोकान्त में खड़ा होकर कोई देव आलोक में अपना हाथ हिला सकता है या नहीं ? इसका न केवल नकारात्मक उत्तर दिया गया, अपितु यह भी कहा गया कि गति की संभावना जीव और पुद्‌गल में है और आलोक में जीव और पुद्‌गल का अभाव होने से ऐसा सम्भव नहीं है। यदि उस समय धर्मास्तिकाय को गति का माध्यम माना गया होता तो पुद्‌गल का अभाव होने पर वह वहाँ ऐसा नहीं कर सकता, इस प्रकार के उत्तर के स्थान पर धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण वह ऐसा नहीं कर सकता, यह कहा जाता, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में मुक्त आत्मा के आलोक में गति न होने का कारण आलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव ही बताया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि धर्मास्तिकाय गति में सहायक द्रव्य है और अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक द्रव्य है—यह अवधारणा एक परवर्ती घटना है, फिर भी इतना निश्चित है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक अर्थात् तृतीय शताब्दी के उत्तरार्ध और चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्धमें यह अवधारणा अस्तित्व में आ गई थी। भगवती आदि में जो पूर्व सन्दर्भ निर्दिष्ट किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल अर्थात् ई. पू. तीसरी-चौथी शती में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अर्थ धर्म और अधर्म की अवधारणाएँ ही थीं।

नवतत्त्व की अवधारणा :

पंचास्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा के समान ही नवतत्त्वों की अवधारणा भी जैन परम्परा की अपनी मौलिक एवं प्राचीनतम अवधारणा है। इस अवधारणा के मूल बीज आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम में भी मिलते हैं। उसमें सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु, सिद्धि (मोक्ष), असिद्धि (बन्धन) आदि के अस्तित्व को मानने वाली विचारधाराओं के उल्लेख हैं। इन उल्लेखों में आस्रव-संवर, पुण्य-पाप तथा बन्धन-मुक्ति के निर्देश छिपे हुए हैं, वैसे आचारांग सूत्र में जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष— ऐसे नव तत्त्वों के उल्लेख प्रकीर्ण रूप में मिलते हैं, किन्तु एक साथ ये नौ तत्त्व हैं— ऐसा उल्लेख उसमें नहीं है।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में अस्ति और नास्ति की कोटियों की चर्चा हुई है। उसमें जिन्हें अस्ति कहना चाहिए, उनका निर्देश भी है। उसके अनुसार जिन तत्त्वों को अस्ति कहना चाहिए, वे निम्न हैं—लोक, अलोक, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अक्रिया, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, चतुरंत संसार, देव, देवी, सिद्धि, असिद्धि, सिद्धनिजस्थान, साधु, असाधु, कल्याण और पाप।

इस विस्तृत सूची का संकोच सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में हुआ है। जहाँ जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अधिकरण, बन्ध और मोक्ष का उल्लेख है। पं. दलसुखभाई मालवणिया का मानना है कि इसमें से वेदना, क्रिया और अधिकरण को निकालकर आगे नौ तत्त्वों की अवधारणा बनी होगी जिसका निर्देश हमें समवायांग (९) और उत्तराध्ययन (२८/१४) में मिलता है। उन्हीं नौ तत्त्वों में से आगे चलकर ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उमास्वाति ने पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके सात तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। इन सात अथवा नौ तत्त्वों की चर्चा हमें परवर्ती सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों के ग्रन्थों में मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनों में सात तत्त्वों की अवधारणा भी पंच-अस्तिकाय की अवधारणा के पश्चात् ही एक काल-क्रम में लगभग ईसा की तीसरी-चतुर्थी शती में अस्तित्व में आयी है। सातवीं से दसवीं शताब्दी के काल में इन अवधारणाओं के सन्दर्भ में, जो परिवर्तन हुआ, वह यह कि उन्हें सम्यक् प्रकार से व्याख्यायित किया गया और उनके भेद-प्रभेद की विस्तृत चर्चा की गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य, सात या नौ तत्त्व और षड्जीव निकाय की अवधारणा का जो विकास हुआ है उसके मूल में भी जीव और पुद्गल द्रव्य ही मुख्य हैं, क्योंकि ये जीव के कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध को सूचित करते हैं। कर्म पुद्गलों का जीव की ओर आना आस्रव है, जो पुण्य या पाप रूप होता है। जीव के साथ कर्म पुद्गलों का संश्लिष्ट होना बन्ध है। कर्म पुद्गलों का आगमन रुकना संवर है और उनका आत्मा या जीव से अलग होना निर्जरा है। अन्त में कर्म पुद्गलों का आत्मा से पूर्णतः विलग हो जाना मोक्ष है। इतना निश्चित है कि जैन आचार्यों ने पंचास्तिकाय की अवधारणा का अन्य दर्शन-परम्पराओं में विकसित द्रव्य की अवधारणा से समन्वय करके षड्द्रव्यों की अवधारणा का विकास किया। अग्रिम पंक्तियों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि षड्द्रव्यों की अवधारणा का और विशेष रूप से द्रव्य की परिभाषा को लेकर जैनदर्शन में कैसे विकास हुआ है?

द्रव्य की अवधारणा :

विश्व के मूलभूत घटक को ही सत् या द्रव्य कहा जाता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में जिसे सत् कहा जाता था, वही आगे चलकर द्रव्य के रूप में माना गया। जिन्होंने विश्व के मूल घटक को एक, अद्वय और अपरिवर्तनशील माना, उन्होंने सत् शब्द का ही अधिक प्रयोग किया। भारतीय चिन्तन में वेदान्त में सत् शब्द का प्रयोग हुआ, जब कि उसकी स्वतन्त्र धाराओं यथा—न्याय, वैशेषिक आदि में द्रव्य और पदार्थ शब्द अधिक प्रचलन में रहे, क्योंकि द्रव्य शब्द स्वतः ही परिवर्तनशीलता का सूचक है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है आचारांग में दविय (द्रवित) शब्द का प्रयोग तो उपलब्ध होता है किन्तु अपने इस पारिभाषिक अर्थ में नहीं है, अपितु द्रवित के अर्थ में है।

द्रव्य शब्द का प्रयोग प्राचीन स्तर के आगमों में सर्वप्रथम उत्तराध्ययन में मिलता है। उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन में द्रव्य का विवेचन है, किन्तु इसका यह और अन्य कुछ अध्ययन अपेक्षाकृत परवर्ती माने जाते हैं। इसमें न केवल द्रव्य शब्द का प्रयोग हुआ है, अपितु द्रव्य, गुण और पर्याय के पारस्परिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उसमें द्रव्य को गुणों का आश्रयस्थल माना गया है। मेरी दृष्टि में उत्तराध्ययन की द्रव्य की वह परिभाषा न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित लगती है। पूज्यपाद देवनन्दी ने पाँचवीं शताब्दी में अपनी तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में गुणों के समुदाय को ही द्रव्य कहा हैं। इसमें द्रव्य और गुण की अभिन्नता पर अधिक बल दिया गया है। किन्तु पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत यह चिन्तन बौद्धों के पंच स्कन्धवाद से प्रभावित है।

यद्यपि यह अवधारणा पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में ही सर्वप्रथम मिलती है, किन्तु उन्होंने "गुणनां समूहो दव्वो" इस वाक्यांश को उद्धृत किया है। अतः यह अवधारणा पाँचवीं शती से पूर्व की है। द्रव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में 'द्रव्य गुणों का आश्रयस्थान' है और 'द्रव्य गुणों का समूह है'— ये दोनों ही अवधारणाएँ मेरी दृष्टि में तीसरी शती से पूर्व की हैं। इस सम्बन्ध में जैनों की अनेकान्तिक दृष्टि से की गयी सर्वप्रथम परिभाषा हमें ईसा की चतुर्थ शती के प्रारम्भ में तत्त्वार्थसूत्र में मिलती है। जहाँ द्रव्य को गुण और पर्याययुक्त कहा गया है। इस प्रकार द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में अनेकान्तिक दृष्टि का प्रयोग सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है।

षट्द्रव्य :

यह तो स्पष्ट कर चुके हैं कि षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। लगभग प्रथम-द्वितीय शताब्दी में ही पंचास्तिकायों के साथ काल को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानकर षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई। यद्यपि काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं? इस प्रश्न पर लगभग ईसा की तीसरी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक यह विवाद चलता रहा है जिसके संकेत हमें तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मान्य पाठ से लेकर विशेषावश्यकभाष्य तक केअनेक

ग्रन्थों में मिलते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि सातवीं शताब्दी के पश्चात् यह विवाद समाप्त हो गया और श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में षट्द्रव्यों की मान्यता पूर्णतः स्थिर हो गई। उसके पश्चात् उसमें कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

ये षट्द्रव्य निम्न हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल और काल। आगे चलकर इन षट्द्रव्यों का वर्गीकरण अस्तिकाय-अनास्तिकाय, चेतन-अचेतन अथवा मूर्त-अमूर्त के रूप में किया जाने लगा। अस्तिकाय और अनास्तिकाय द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म-अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल—इन पाँच को अस्तिकाय और काल को अनास्तिकाय द्रव्य माना गया। चेतन-अचेतन द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल को अचेतन द्रव्य और जीव को चेतन द्रव्य माना गया है। मूर्त और अमूर्त द्रव्यों की अपेक्षा से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अमूर्त द्रव्य और पुद्गल को मूर्त द्रव्य माना गया है।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि विद्वानों ने भी यह माना है कि जैनदर्शन में द्रव्य की अवधारणा का विकास न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित है। जैनाचार्यों ने वैशेषिक दर्शन की द्रव्य की अवधारणा को अपनी पंचास्तिकाय की अवधारणा से समन्वित किया है। अतः जहाँ वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्य माने गये थे वहाँ जैनों ने पंचास्तिकाय के साथ काल को जोड़कर मात्र छः द्रव्य ही स्वीकार किए। इनमें भी जीव (आत्मा), आकाश और काल—ये तीन द्रव्य दोनों ही परम्पराओं में स्वीकृत रहे। पंचमहाभूतों, जिन्हें वैशेषिक दर्शन में द्रव्य माना गया है, में आकाश को छोड़कर शेष पृथ्वी, अप् (जल), तेज (अग्नि) और मरुत (वायु) इन चार द्रव्यों को जैनों ने स्वीकार नहीं किया, इनके स्थान पर उन्होंने पाँच अस्तिकायों में से धर्म, अधर्म और पुद्गल ऐसे अन्य तीन द्रव्य निश्चित किए। यह भी ज्ञातव्य है कि जहाँ अन्य परम्पराओं में पृथ्वी, अप्, वायु और अग्नि इन चारों को जड़ माना गया था, वहाँ जैनों ने इन्हें चेतन माना। इस प्रकार स्पष्ट है कि जैनदर्शन की षड्द्रव्य की अवधारणा अपने आप में मौलिक ही है। अन्य दर्शन परम्परा से उसका आंशिक साम्य ही देखा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि उन्होंने इस अवधारणा का विकास अपनी मौलिक पंचास्तिकाय की अवघारणा से किया है। इसमें से जीवद्रव्य के भेदों की चर्चा में षट्जीव निकाय का विकास हुआ है। पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु को चेतन तत्त्व मानना, यह भी जैनों की विशेषता है। जीवद्रव्य का पुद्गल से किस प्रकार का सम्बन्ध है इसे भी जैनाचार्यों ने स्पष्ट किया। इसी आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पंचास्तिकाय से षट्द्रव्य और षट्द्रव्यों में जीव और अजीव के सम्बन्ध के आधार पर नौ तत्त्वों की कल्पना स्थिर हुई है। पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य और सात या नव तत्त्वों में जीवास्तिकाय, जीवद्रव्य या जीवतत्त्व समाहित ही था; अतः उसके प्रकारों की चर्चा में षट्जीव निकाय की अवधारणा बनी।

षट्जीवनिकाय की अवधारणा :

पंचास्तिकाय के साथ-साथ षट्जीवनिकाय की चर्चा भी प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय के विभाग के रूप में षट्जीवनिकाय की यह अवधारणा विकसित हुई है। षट्जीवनिकाय निम्न हैं—पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, तेजकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। पृथ्वी आदि केलिए 'काय' शब्द का प्रयोग प्राचीन है। दीघनिकाय में अजितकेशकम्बलिन के मत को प्रस्तुत करते हुए—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय और वायुकाय का उल्लेख हुआ है। उसी ग्रन्थ में पकुधकच्चायन के मत के सन्दर्भ में पृथ्वी, अप, तेजस, वायु, सुख, दुःख और जीव—इन सात कायों की चर्चा है। इससे यह फलित होता है कि पृथ्वी, अप आदि केलिए काय संज्ञा अन्य श्रमण परम्पराओं में प्रचलित थी। काय शब्द एक ओर शरीर का वाचक है तो दूसरी ओर समूह या स्कन्ध का भी वाचक है।

यद्यपि काय कौन-कौन से और कितने हैं इस प्रश्न को लेकर उनमें परस्पर मतभेद थे। अजितकेशकम्बलिन पृथ्वी, अप, तेजस् और वायु इन चार महाभूतों को काय कहता था, तो पकुधकच्चायन इन चार के साथ सुख, दुःख और जीव इन तीन को सम्मिलित कर सात काय मानते थे। जैनों की स्थिति इनसे भिन्न थी—वे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल—इन पाँच को काय मानते थे, किन्तु इतना निश्चित है कि उनमें पंच अस्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा लगभग ई. पू. छटी-पाँचवी शती में अस्तित्व में थी। क्योंकि आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में इन षट्जीवनिकायों का और ऋषिभासित के पार्श्व अध्ययन में पंच अस्तिकायों का स्पष्ट उल्लेख है। इन सभी ग्रन्थों को सभी विद्वानों ने ई. पू. पाँचवीं-चौथी शती का और पाली त्रिपिटक के प्राचीन अंशों का समकालीन माना है। हो सकता है कि ये अवधारणायें क्रमशः पार्श्व और महावीरकालीन हों। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय की अवधारणा मूलतः पार्श्व की परम्परा की रही है— जिसे लोक की व्याख्या के सन्दर्भ में भगवान महावीर ने पार्श्व की अवधारणाओं को स्वीकार किया था, जिसका उल्लेख भगवतीसूत्र में है, अतः इसी क्रम में उन्होंने पार्श्व की पंचास्तिकाय की अवधारणा को भी मान्यता दी होगी।

अतः मैं पं. दलसुखभाई मालवाणियाँ के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि पंचास्तिकाय की परम्परा का विकास बाद में हुआ। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि भगवान महावीर की परम्परा में पार्श्व की परम्परा सम्मिलित हो जाने पर जो दार्शनिक अवधारणायें भगवान महावीर की परम्परा में मान्य हुईं उनमें पंचास्तिकाय की अवधारणा भी थी। अतः चाहे पंचास्तिकाय की अवधारणा महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना के बाद सर्वप्रथम भगवती में मान्य हुई हो, किन्तु वह है पार्श्वकालीन।

यहाँ हमारी विवेच्य षट्जीवनिकाय की अवधारणा है, जो निश्चित ही महावीरकालीन तो है ही और उसके भी पूर्व की हो सकती है, क्योंकि इसकी चर्चा आचारांग के प्रथम अध्ययन में है। इतना भी निश्चित सत्य है कि न केवल वनस्पति और अन्य जीव-जन्तु सजीव हैं अपितु पृथ्वी, अप्, तेज और वायु भी सजीव हैं। यह अवधारणा स्पष्ट रूप से जैनों की रही है—सांख्य, न्याय-वैशेषिक आदि प्राचीन दर्शन-धाराओं में इन्हें पंचमहाभूतों के रूप में जड़ ही माना गया था— जब कि जैनों में इन्हें चेतन, सजीव मानने की परम्परा रही है। पंचमहाभूतों में मात्र आकाश ही ऐसा है, जिसे जैन परम्परा भी अन्य दर्शन परम्पराओं के समान अजीव (जड़) मानती है। यही कारण था कि आकाश की गणना पंचास्तिकाय में तो की गई किन्तु षट्जीवनिकाय में नहीं। जब कि पृथ्वी, अप्, तेज और वायु को षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत माना गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में पृथ्वी, जल आदि के आश्रित जीव रहते हैं, इतना ही न मानकर यह भी माना गया है कि ये स्वयं जीव हैं, यद्यपि इनकी जीवरूपता इस अर्थ में है कि ये जब किसी भी जीवित शरीर का अंग होते हैं, सजीव होते हैं, जैसे हमारी हड्डियों में रहा हुआ चूना, खून में रहा हुआ लोहतत्त्व या शरीर में रहा हुआ अग्नि, वायु, या जल तत्त्व। अतः जैनधर्म की साधना में और विशेष रूप से जैन मुनि आचार में इनकी हिंसा से बचने के निर्देश दिये गये हैं। जैन आचार में अहिंसा के परिपालन में जो सूक्ष्मता और अतिवादिता आयी है, उसका मूल कारण यह षट्जीवनिकाय की अवधारणा है। यह स्वाभाविक था कि जब पृथ्वी, पानी, वायु आदि को सजीव मान लिया गया तो अहिंसा के परिपालन के लिये इनकी हिंसा से बचना आवश्यक हो गया।

यह स्पष्ट है कि षट्जीवनिकाय की अवधारणा जैनदर्शन की प्राचीनतम अवधारणा है। प्राचीन काल से लेकर यह आज तक यथावत् रूप से मान्य है। तीसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी के मध्य इस अवधारणा में वर्गीकरण सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों को छोड़कर अन्य कोई मौलिक परिवर्तन हुआ हो, यह मानना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि आचारांग के बाद सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की जीव सम्बन्धी अवधारणा में कुछ विकास अवश्य हुआ है। पं. दलसुखभाई मालवाणिया के अनुसार जीवों की उत्पत्ति किस-किस योनि में होती है, जब वे एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करते है, तो अपने जन्म स्थान में किस प्रकार आहार ग्रहण करते हैं, इसका विवरण सूत्रकृतांग के आहार-परिज्ञा नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययन में है। यह भी ज्ञातव्य है कि उसमें जीवों के एक प्रकार को 'अनुस्यूत' कहा जाता है। सम्भवतः इसी से आगे जैनों में अनन्तकाय ओर प्रत्येक वनस्पति की अवधारणाओं का विकास हुआ हो। दो, तीन और चार इन्द्रियों वाले जीवों में किस वर्ग में कौन से जीव हैं, यह भी परवर्तीकाल में ही निश्चित हुआ। फिर भी भगवती, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना के काल तक अर्थात् ई. की तीसरी शताब्दी तक यह अवधारणा

विकसित हो चुकी थी, क्योंकि प्रज्ञापना के काल में इन्द्रिय, आहार और पर्याप्ति आदि के सन्दर्भ में विस्तृत विचार होने लगा था।

ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के बाद षट्जीवनिकाय में त्रस और स्थावर के वर्गीकरण को लेकर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। आचारांग से लेकर तत्त्वार्थसूत्र के काल तक पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर माना गया था, जब कि अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस कहा जाता था। उत्तराध्ययन का अन्तिम अध्याय, जीवाभिगमसूत्र, कुन्दकुन्द का पंचास्तिकाय और उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर और अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि को त्रस मानते हैं। द्वीन्द्रिय आदि को त्रस मानने की परम्परा तो थी ही, अतः आगे चलकर सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मानने की परम्परा का विकास हुआ। यद्यपि कठिनाई यह थी कि अग्नि और वायु में स्पष्टतः गतिशीलता देखे जाने पर उन्हें स्थावर कैसे माना जाये ? प्राचीन आगमों में जहाँ पाँच एकेन्द्रिय जीवों के साथ-साथ त्रस का उल्लेख है वहाँ उसे त्रस और स्थावर का वर्गीकरण नहीं मानना चाहिये, अन्यथा एक ही आगम में अन्तर्विरोध मानना पड़ेगा, जो समुचित नहीं है। इस समस्या का मूल कारण यह था कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस नाम से अभिहित किया जाता था— अतः कालान्तर में यह माना गया कि द्वीन्द्रिय से भिन्न सभी एकेन्द्रिय स्थावर हैं।

इस चर्चा के आधार पर इतना तो मानना होगा कि लगभग छठी शताब्दी के पश्चात् ही त्रस और स्थावर के वर्गीकरण की धारणा में परिवर्तन हुआ है तथा आगे चलकर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पंच स्थावर की अवधारणा दृढ़ीभूत हो गयी। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जब वायु और अग्नि को त्रस माना जाता था, तब द्वीन्द्रियादि त्रसों के लिए उदार (उराल) त्रस शब्द का प्रयोग होता था तथा वायु और अग्नि को गतिशीलता की अपेक्षा से त्रस माना जाता था। वायु की गतिशीलता स्पष्ट थी। अतः सर्वप्रथम उसे त्रस कहा गया। बाद में सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात हुआ कि अग्नि भी ईंधन के सहारे धीरे-धीरे गति करती हुई फैलती जाती है। अतः उसे भी त्रस कहा गया। जल की गति केवल भूमि के ढलान के कारण होती है, स्वतः नहीं। अतः उसे पृथ्वी एवं वनस्पति के समान स्थावर ही माना गया। किन्तु वायु और अग्नि में स्वतः गति होने से उन्हें त्रस माना गया। पुनः जब आगे चलकर द्वीन्द्रिय आदि को ही त्रस और सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मान लिया गया तो- पूर्व आगमिक वचनों से संगति बिठाने का प्रश्न आया।

अतः श्वेताम्बर परम्परा में यह माना गया कि लब्धि की अपेक्षा से तो वायु एवं अग्नि स्थावर हैं, किन्तु गति की अपेक्षा से उन्हें त्रस कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में धवला टीका (१० वीं शती) में इसका समाधान यह कह कर दिया गया कि वायु एवं अग्नि को स्थावर कहे जाने का आधार उनकी गतिशीलता न होकर स्थावर नामकर्म का उदय है। दिगम्बर परम्परा में ही कुन्दकुन्द

के पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने यह समन्वय निश्चय और व्यवहार के आधार पर किया। वे लिखते हैं– पृथ्वी, अप और वनस्पति ये तीन स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर कहे जाते हैं, किन्तु वायु और अग्नि पंच स्थावर में वर्गीकृत किये जाते हुए भी चलन क्रिया दिखाई देने से व्यवहार से त्रस कहे जाते हैं। वस्तुतः यह सब प्राचीन और परवर्ती ग्रन्थों में जो मान्यता भेद आ गया था उससे संगति बैठाने का एक प्रयत्न था।

जहाँ तक जीवों के विविध वर्गीकरणों का प्रश्न है, निश्चय है कि ये सब वर्गीकरण ई. सन् की दूसरी-तीसरी शती से लेकर दसवीं शती तक की कालावधि में स्थिर हुए हैं। इस काल में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि अवधारणाओं का विकास हुआ है। भगवती जैसे प्राचीन आगमों में जहाँ इन विषयों की चर्चा है वहाँ प्रज्ञापना आदि अंगबाह्य ग्रन्थों का निर्देश हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये विचारणाएँ ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के बाद ही विकसित हुईं। ऐसा लगता है कि प्रथम अंगबाह्य आगमों में उनका संकलन किया गया है और फिर माथुरी एवं वल्लभी वाचनाओं के समय उन्हें अंग आगमों में समाविष्ट कर इनकी विस्तृत विवेचना को देखने के लिए तद्-तद् ग्रन्थों का निर्देश कर दिया गया।

इस प्रकार जैन साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह माना जाता है कि जैन तत्त्वमीमांसा का विकास कालक्रम में हुआ है। यद्यपि परम्परागत मान्यता जैनदर्शन को सर्वज्ञ प्रणीत मानने के कारण इस ऐतिहासिक विकासक्रम को अस्वीकार करती है। इस प्रकार इस आलेख में जो विविध समस्याएँ उठाई गई हैं, विद्वानों से अपेक्षा हैं कि वे इसे आगे गति देंगे।

❑ ❑ ❑

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में आयोजित विशिष्ट व्याख्यानों के प्रकाशनों की सूची

(1)	The Central Philosophy of Jainism (Anekanta-Vada) Prof. Bimal Krishna Matilal, L. D. Series - 79, (1981)	30.00
(2)	Facets of Jaina Religiousness in Comparative Light Prof. L. M. Joshi, L. D. Series - 85, (1981)	35.00
(3)	Haribhadra's Yoga Works and Phychosynthesis Dr. S. M. Desai, L. D. Series - 94, (1983)	30.00
(4)	Abhidha (Eng.) Prof. Tapasvi Nandi, L. D. Series - 131, (2002)	120.00
(5)	पाणिनीय व्याकरण - तन्त्र, अर्थ और सम्भाषण सन्दर्भ प्रो. वसंतकुमार भट्ट, ला. द. ग्रंथमाला - १३५, (२००३)	६५.००
(6)	जैन दर्शन में द्रव्य, गुण और पर्याय की अवधारणा प्रो. सागरमल जैन, मुनिश्री पुण्यविजयजी स्मृति व्याख्यानमाला २००९, ला. द. ग्रंथमाला - १५१ (२०११)	१५०.००

ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर द्वारा आयोजित व्याख्यान श्रेणी

(१) श्रेष्ठीश्री कस्तुरभाई लालभाई व्याख्यानमाला

(२) मुनिश्री पुण्यविजयजी स्मृति व्याख्यानमाला

(३) लालभाई दलपतभाई व्याख्यानमाला

(४) प्रो. वी. एम. शाह स्मृति व्याख्यानमाला